विवेक-शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ अप्रैल—१९९५ अंक—४

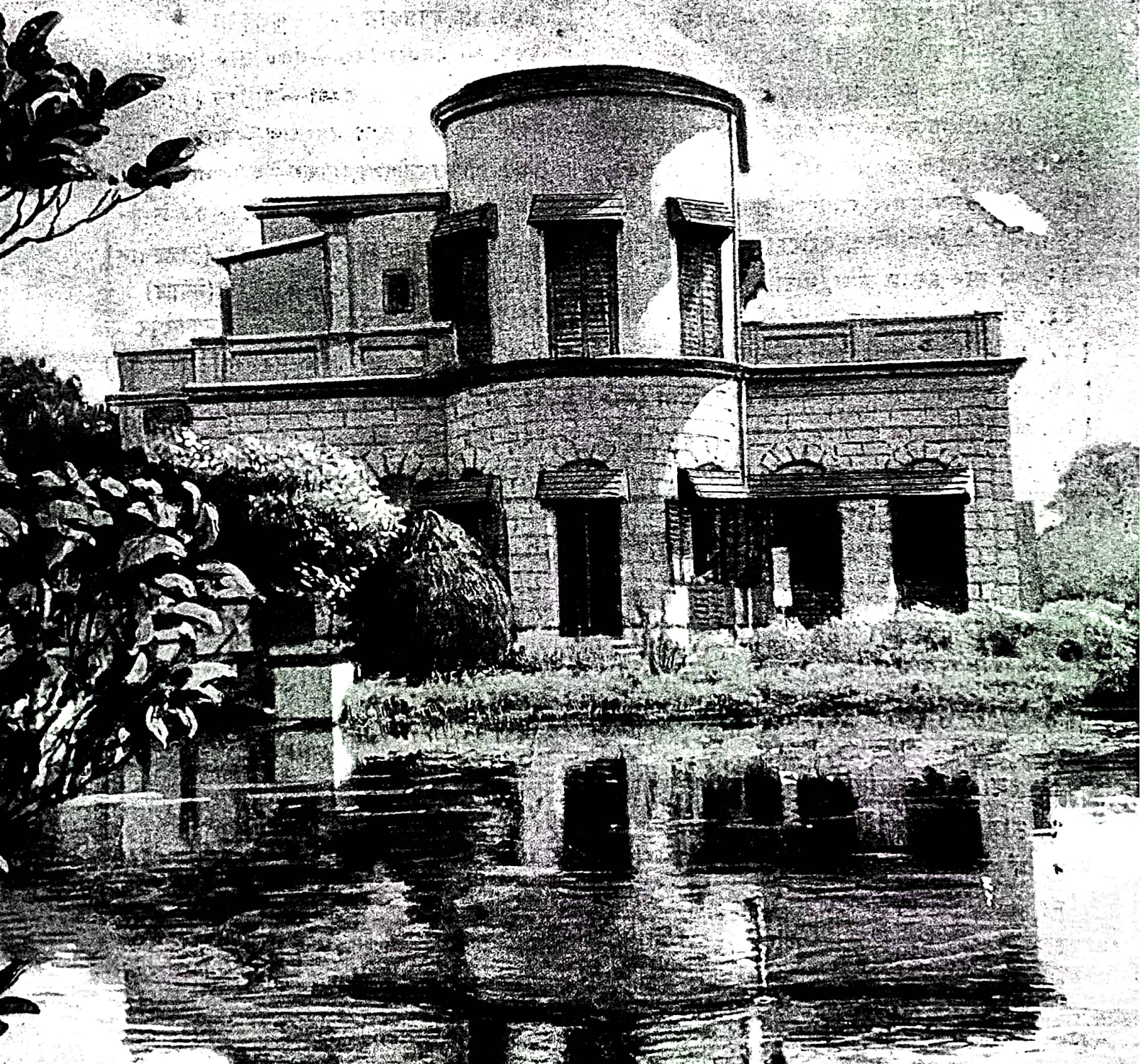

रामकृष्ण [illegible] प्रकाशक [illegible] मुजफ्फरपुर ८४१ ३०१ (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

११६. श्रीरामचन्द्र गुप्त, लुमडिंग (आसाम)
११७. श्री चन्द्रकान्त स० नागपुरे (नागपुर)
११८. श्री अच्छे लाल श्रीवास्तव (उ० प्र०)
११९. संत जगदम्बिका (प्रयाग)
१२०. श्री अजय बलदवा, जयपुर (आसाम)
१२१. श्री बी० एस० दुबे, पुणे (महाराष्ट्र)
१२२. श्री पालीराम शर्मा, लुमडिंग (आसाम)
१२३. श्रीमती चन्द्रिका कालरा (बम्बई)
१२४. श्रीरामकृष्ण आश्रम, श्रीनगर (कश्मीर)
१२५. श्रीमती छवि सिंह, गाजीपुर (उ० प्र०)
१२६. विवेकानन्द युवा महामंडल, इन्दौर (म० प्र०)
१२७. श्री आनन्द यश चोपड़ा, अलॉंग(अरुणाचल प्रदेश)
१२८. सुश्री सेजल क० मान्डवीय, जूनागढ़ (गुजरात)
१३०. श्री विजय कुमार रामसेवक गुप्ता, नागपुर
१३१. श्री जी. के. दीक्षित, बरोदा (गुजरात)
१३२. श्री सत्य प्रकाश लाल, वाराणसी (उ. प्र.)
१३३. श्री पूनम चन्द्र जैन—लुमडिंग (आसाम)
१३४. श्री राम आसरा वासुदेव—लुमडिंग (आसाम)
१३५. नार्थ कछार टिम्बर प्रोडक्ट्स—मंडरबिला (आ०)
१३६. श्री ओम प्रकाश अग्रवाल—लंका (आसाम)
१३७. श्री महेश गुरुवारा लुमडिंग (आसाम)
१३८. श्री भोलानाथ उपाध्याय—लुमडिंग (आसाम)
१३९. श्री अमुभाई पटेल—बड़ोदा (गुजरात)
१४०. श्री रामभगत खेमका—मद्रास
१४१. श्री रूपाराम—जोधपुर (राजस्थान)
१४२. महावीर बाल वाचनालय—चन्दावल नगर(राज०)
१४३. श्री कृष्ण मलहोत्रा—नई दिल्ली
१४४. श्री गुलशन चावला—दिल्ली
१४५. श्री आर० के० ग्रोवर—नई दिल्ली
१४६. श्री राकेश रेलहन—नई दिल्ली
१४७. श्री जयप्रकाश सिंह—कलकत्ता
१४८. श्री गंगाधर मिश्र—एन० सी० हिल्स
१४९. श्री बी० बी० शेरपा—लुमडिंग (आसाम)
१५०. श्री शंकर लाल अगरवाल—नगांव (आसाम)
१५१. श्री रामगोपाल खेमका—कलकत्ता
१५२. श्रीमती शान्ति देवी—इन्दौर (म० प्र०)
१५३. श्री जगदीश बिहारी—जयपुर (राजस्थान)
१५४. डॉ० गोविन्द शर्मा—काठमांडू (नेपाल)
१५५. श्री विजय कुमार मल्लिक—मुजफ्फरपुर
१५६. सुश्री एस. पी. त्रिवेदी—राजकोट (गुजरात)
१५७. श्रीमती गिरिजा देवी—बखरिया (बिहार)
१५८. श्री अशोक कौशिक—मालवीय नगर, नयी दिल्ली
१५९. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ—देवघर (बिहार)

इस अंक में

		पृष्ठ
१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है		१
२. राम राम जपु जिय (भजन)	गोस्वामी तुलसीदास	२
३. श्रीरामकृष्ण के रामलला	स्वामी विदेहात्मानन्द	३
४. अध्यात्म के बिखरे मोती	स्वामी यतीश्वरानन्द	६
५. स्वामी विवेकानन्दजी का लिबड़ी में आगमन	स्वामी निखिलेश्वरानन्द	१३
६. ठाकुर के चरणों में (कविता)	श्री ओंकारेश्वर	१९
७. मंगलकारी 'णमोकार' महामंत्र	श्री एन० के० अग्रवाल	२०
८. उलझे जीवन के सुलझे रास्ते	श्रीमती मंजुला बोंदिया	२२
९. देवलोक	स्वामी अपूर्वानन्द	२९
१०. सिस्टर निवेदिता	सुश्री जसवीर कौर आहूजा	३०
११. प्रतिवेदन	डॉ० रामकिशोर प्र० श्रीवास्तव	३२

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

११६. श्रीरामचन्द्र गुप्त, लुमडिंग (आसाम)
११७. श्री चन्द्रकान्त स० नागपुरे (नागपुर)
११८. श्री अच्छे लाल श्रीवास्तव (उ० प्र०)
११९. संत जगदम्बिका (प्रयाग)
१२०. श्री अजय बलदवा, जयपुर (आसाम)
१२१. श्री बी० एस० दुबे, पुणे (महाराष्ट्र)
१२२. श्री पालीराम शर्मा, लुमडिंग (आसाम)
१२३. श्रीमती चन्द्रिका कालरा (बम्बई)
१२४. श्रीरामकृष्ण आश्रम, श्रीनगर (कश्मीर)
१२५. श्रीमती छवि सिंह, गाजीपुर (उ० प्र०)
१२६. विवेकानन्द युवा महामंडल, इन्दौर (म० प्र०)
१२७. श्री आनन्द यश चोपड़ा, अलॉग(अरुणाचल प्रदेश)
१२८. सुश्री सेजल क० मान्डवीय, जूनागढ़ (गुजरात)
१३०. श्री विजय कुमार रामसेवक गुप्ता, नागपुर
१३१. श्री जी. के. दीक्षित, वरोदा (गुजरात)
१३२. श्री सत्य प्रकाश लाल, वाराणसी (उ. प्र.)
१३३. श्री पूनम चन्द्र जैन—लुमडिंग (आसाम)
१३४. श्री राम आसरा वासुदेव—लुमडिंग (आसाम)
१३५. नार्थ कछार टिम्बर प्रोडक्ट्स—मंडरबिला (आ०)
१३६. श्री ओम प्रकाश अग्रवाल—लंका (आसाम)
१३७. श्री महेश गुरुवारा लुमडिंग (आसाम)
१३८. श्री भोलानाथ उपाध्याय—लुमडिंग (आसाम)
१३९. श्री अमुभाई पटेल—बड़ोदा (गुजरात)
१४०. श्री रामभगत खेमका—मद्रास
१४१. श्री रूपाराम—जोधपुर (राजस्थान)
१४२. महावीर बाल वाचनालय—चन्दावल नगर(राज०)
१४३. श्री कृष्ण मलहोत्रा—नई दिल्ली
१४४. श्री गुलशन चावला—दिल्ली
१४५. श्री आर० के० ग्रोवर—नई दिल्ली
१४६. श्री राकेश रेल्हन—नई दिल्ली
१४७. श्री जयप्रकाश सिंह—कलकत्ता
१४८. श्री गंगाधर मिश्र—एन० सी० हिल्स
१४९. श्री बी० बी० शेरपा—लुमडिंग (आसाम)
१५०. श्री शंकर लाल अगरवाल—नगांव (आसाम)
१५१. श्री रामगोपाल खेमका—कलकत्ता
१५२. श्रीमती शान्ति देवी—इन्दौर (म० प्र०)
१५३. श्री जगदीश बिहारी—जयपुर (राजस्थान)
१५४. डॉ० गोविन्द शर्मा—काठमांडू (नेपाल)
१५५. श्री विजय कुमार मल्लिक—मुजफ्फरपुर
१५६. सुश्री एस. पी. त्रिवेदी—राजकोट (गुजरात)
१५७. श्रीमती गिरिजा देवी—बखरिया (बिहार)
१५८. श्री अशोक कौशिक—मालवीय नगर, नयी दिल्ली
१५९. रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ—देवघर (बिहार)

इस अंक में

		पृष्ठ
१. श्रीरामकृष्ण ने कहा है		१
२. राम राम जपु जिय (भजन)	गोस्वामी तुलसीदास	२
३. श्रीरामकृष्ण के रामलला	स्वामी विदेहात्मानन्द	३
४. अध्यात्म के बिखरे मोती	स्वामी यतीश्वरानन्द	६
५. स्वामी विवेकानन्दजी का लिबड़ी में आगमन	स्वामी निखिलेश्वरानन्द	१३
६. ठाकुर के चरणों में (कविता)	श्री ओंकारेश्वर	१९
७. मंगलकारी 'णमोकार'महामंत्र	श्री एन० के० अग्रवाल	२०
८. उलझे जीवन के सुलझे रास्ते	श्रीमती मंजुला बोर्दिया	२२
९. देवलोक	स्वामी अपूर्वानन्द	२९
१०. सिस्टर निवेदिता	सुश्री जसवीर कौर आहूजा	३०
११. प्रतिवेदन	डॉ० रामकिशोर प्र० श्रीवास्तव	३२

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा का एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१४ अप्रैल—१९९५ अंक—४

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ
सहायक सम्पादक
शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :
विवेक शिखा
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन। ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	४० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	५० रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

जब तक ईश्वर के दर्शन न हों, जब तक उस पारसमणि के स्पर्श से लोहा सोना न बन जाए, तब तक 'मैं कर्त्ता हूँ' यह भ्रम रहेगा ही; 'मैंने सत्कर्म किया', 'मैंने असत्कर्म किया' यह भेद-बोध रहेगा ही। यह भेद-बोध उन्हीं की माया है, और इसी के कारण यह संसार चल रहा है। विद्यामाया का आश्रय लेने पर सन्मार्ग पकड़कर चलने से उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। जो ईश्वर को प्राप्त कर लेता है, उनके प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है, वही माया को पार कर सकता है। 'ईश्वर ही एकमात्र कर्त्ता है, मैं अकर्त्ता हूँ' यह विश्वास जिसे है वही जीवन्मुक्त है।

(२)

मनुष्य सपने में यह देखकर कि कोई उसे काटने आ रहा है, मारे डर के हड़बड़ाकर उठ बैठता है। यद्यपि वह उठकर देखता है कि कमरा बन्द है और अन्दर कोई नहीं है, फिर भी कुछ समय तक उसकी छाती धड़कती रहती है। इसी भाँति यह 'मैं' पन या अभिमान चला जाने पर भी उसका कुछ जोर रह ही जाता है।

(३)

खाली गड़ुए में पानी भरते समय 'भक्' 'भक्' आवाज होती है, पर गड़ुआ भर जाने पर कोई आवाज नहीं होती। इसी प्रकार, जिन्हें भगवान की प्राप्ति नहीं हुई है वे ही भगवान् के स्वरूप के सम्बन्ध में नाना प्रकार के निरर्थक तर्क-वितर्क किया करते हैं, किन्तु जिसने भगवान का दर्शनलाभ कर लिया है, वह शान्त और स्थिर होकर दिव्य ईश्वरीय आनन्द का उपभोग करता है।

राम राम जपु जिय

—गोस्वामी तुलसीदास

राम राम जपु जिय सदा सानुराग रे ।
कलि न बिराग, जोग, जाग, तप त्याग रे ॥१॥

राम सुमिरत सब विधि ही को राज रे ।
रामको बिसारिबो निषेध—सिरताज रे ॥२॥

राम - नाम महामनि फनि जगजाल रे ।
मनि लिये फनि जियै, ब्याकुल बिहाल रे ॥३॥

राम - नाम कामतरु देत फल चारि रे ।
कहत पुरान, बेद, पंडित, पुरारि रे ॥४॥

राम - नाम प्रेम - परमारथको सार रे ।
राम - नाम तुलसीको जीवन - अधार रे ॥५॥

भावार्थ—हे जीव ! सदा अनन्यप्रेम से श्रीरामनाम जपा कर, इस कलिकाल में रामनाम के सिवा वैराग्य, योग, यज्ञ, तप और दान से कुछ भी नहीं हो सकता ॥१॥

शास्त्रों में विधि-निषेधरूप से कर्म बतलाये गये हैं; मेरी सम्मति में श्रीरामनाम का स्मरण करना ही सारी विधियों में राज-विधि है और श्रीरामनाम को भूल जाना ही सबसे बढ़कर निषिद्ध कर्म है ॥२॥

राम-नाम महामणि है और यह जगत् का जाल साँप है। जैसे मणि ले लेने से साँप व्याकुल होकर मर-सा जाता है, इसी प्रकार रामनामरूपी मणि ले लेने से दुःखरूप जगत्-जाल आप ही नष्ट-प्राय हो जायगा ॥३॥

अरे ! यह राम-नाम कल्पवृक्ष है, यह अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष, चारों फल देता है, इस बात को वेद, पुराण, पण्डित और शिवजी महाराज भी कहते हैं ॥४॥

श्रीरामनाम प्रेम और परमार्थ अर्थात् भुक्ति-मुक्ति दोनों का सार है और यह रामनाम इस तुलसीदास के तो जीवन का आधार ही है ॥५॥

श्रीरामकृष्ण के रामलला की अद्भुत लीला

—स्वामी विदेहात्मानन्दजी महाराज
रायपुर (म० प्र०)

सन् १८६३-६४ की बात है। कलकत्ते के निकट दक्षिणेश्वर नामक एक गाँव है। वहाँ रानी रासमणि द्वारा निर्मित कालीमन्दिर के प्राङ्गण में परमहंस श्रीरामकृष्ण अपनी साधना में लीन थे। वे जब, जिस प्रकार की साधना प्रारम्भ करते, तब दक्षिणेश्वर में उसी भाव के साधु-संतों का आगमन आरम्भ हो जाता था। जगदम्बा की इच्छा से उनके मन में वैष्णव-भावों के अनुसार साधना की इच्छा उत्पन्न हुई और अब परमहंसदेव को राम भक्ति का आस्वादन कराने वहाँ अनेक महान् वैष्णव भक्तों का आगमन होने लगा। श्रीजटाधारी नाम के रामायतपन्थी साधु भी में इन्हीं से एक थे।

श्रीजयधारी के पास पीतल की एक 'रामलला' की मूर्ति थी, जिसके साथ उनका विशेष लगाव था। दीर्घकाल तक उस मूर्ति की सेवा-पूजा करने के फलस्वरूप उनका मन इतना अन्तर्मुखी हो चुका था कि उन्हें भाव राज्य में सदा दिखायी देता कि श्रीराम का ज्योतिर्मय बालविग्रह वास्तव में उनके सामने प्रकट होकर उनकी सेवा स्वीकार कर रहा है। प्रारम्भिक अवस्था में उन्हें प्रतिदिन थोड़े समय के लिए ही ऐसे दर्शन होते थे और उसी से वे आनन्द विभोर रहा करते थे। बाद में वे ज्यों-ज्यों साधना में अग्रसर होने लगे, त्यों-त्यों रामलला का दर्शन भी उनके लिए घनीभूत होते हुए दैनन्दिन जीवन की अन्य वस्तुओं के समान ही सहज तथा स्थायी हो गया। रामलला मानो उनके नित्य सहचर हो चुके थे और जटाधारी 'विग्रह' की सेवा करते हुए भारत के विभिन्न तीर्थों का भ्रमण करते हुए अन्ततः दक्षिणेश्वर आ पहुँचे थे।

श्री जटाधारी ने किसी को बताया नहीं था कि उन्हें सर्वदा रामलला की भावधन-मूर्ति का दर्शन होता रहता है। लोग केवल इतना ही देख पाते कि वे अपने धातुनिर्मित विग्रह की अतीव निष्ठापूर्वक सेवा करते रहते हैं। परन्तु श्रीरामकृष्ण को यह सब समझते जरा भी देर नहीं लगी। इसी कारण वे श्रीजटाधारी से पहली बार भेंट होने के बाद से ही उनके प्रति श्रद्धावान हो गये और उन्हें आवश्यकता की सारी वस्तुएँ उपलब्ध कराने लगे। वे काफी समय तक श्रीजटाधारी की सेवा-पूजा तथा रामलला की अलौकिक लीला का अवलोकन करते रहते। जटाधारी के साथ सत्संग करते हुए श्रीरामकृष्ण का हृदय क्रमशः कौसल्यानन्दन के प्रति भक्ति-प्रीति से ओतप्रोत हो उठा। जटाधारी को रामलला-मूर्ति के समीप बैठकर उसकी मधुर बाल-चेष्टाएँ देखते उनका सारा समय निकल जाता।

श्रीरामकृष्ण पहले ही अपने कुलदेवता श्रीरघुवीर की पूजा करने के लिए राममन्त्र की दीक्षा ले चुके थे। पहले वे दास्यभाव से उपासना कर चुके थे। परन्तु अब उनके मन में वात्सल्य

भाव से मन्त्र लेकर उपासना करने की इच्छा हुई। जटाधारी को जब इसका पता चला तो उन्होंने सहर्ष श्रीरामकृष्ण को भी अपने इष्टमन्त्र में दीक्षित कर लिया। कुछ ही दिनों की साधना के उपरान्त उन्हें भी 'रामलला' का सतत् दर्शन होने लगा और क्रमशः अनुभव होने लगा—

जो राम दशरथ का बेटा,
वही राम घट-घट में लेटा।
उसी राम ने जगत पसारा,
वही राम है सबसे न्यारा॥

परवर्ती-काल में श्रीरामकृष्ण ने अपने युवा शिष्यों के समक्ष रामलला की मूर्ति दिखाते हुए अपनी इस उपासना का सविस्तार वर्णन किया था। उन्होंने बताया था—

'बाबाजी सदैव उस मूर्ति की सेवा में लगे रहते थे। वे जहां भी जाते, उसे अपने साथ ले जाते। उन्हें जो कुछ भिक्षा मिलती उससे 'रामलला' का भोग लगाते और इतना ही नहीं उन्हें प्रत्यक्ष दिखायी देता कि रामलला सचमुच भोजन कर रहा है, कोई चीज खाने को माँग रहा है, घूमने जाना चाहता है, या फिर प्रेमपूर्वक हठ कर रहा है। और उस मूर्ति को लेकर वे सदा आनन्द विभोर तथा मस्त रहा करते थे। मुझे भी रामलला के ये आचरण दृष्टिगोचर होते थे और प्रतिदिन सारे समय बाबाजी के समीप बैठा-बैठा मैं रामलला को देखता रहता था।

'ज्यों-ज्यों दिन बितने लगे त्यों-त्यों रामलला का भी मेरे प्रति प्रेम बढ़ने लगा। मैं जबतक बाबाजी के पास रहता, तबतक रामलला भी वहीं रहकर चुपचाप खेलता और मैं ज्यों ही वहाँ से अपने कमरे की ओर लौटता, त्यों ही वह भी मेरे साथ-साथ चल देता। मेरे मना करने पर भी वह बाबाजी के पास नहीं ठहरता। शुरू-शुरू में तो मुझे ऐसा लगा कि मैं अपनी धुन में ही ऐसा देखता रहता हूँ। अन्यथा बाबाजी द्वारा चिर-पूजित रामलला, जिसे वे इतना लाड़-प्यार करते हैं, भक्तिपूर्वक इतनी सावधानी से जिसकी सेवा करते हैं, वह उनकी अपेक्षा मुझसे अधिक लगाव रखे, यह भी क्या सम्भव है? लेकिन मेरी इस धारणा का मूल्य ही क्या था? जैसे मैं तुम लोगों को देख रहा हूँ, रामलला को भी ठीक इसी प्रकार से देखता वह मेरे आगे-आगे और कभी पीछे-पीछे मटकता हुआ चला आ रहा है। कभी वह मेरी गोद में चढ़ने के लिये मचलता और फिर जब मैं उसे गोद में लिये रहता, तो कभी-कभी वह बिलकुल भी गोद में नहीं रहना चाहता और गोद से उतरकर धूप में दौड़ता, कँटीली झाड़ियों में जाकर फूल तोड़ता था, गङ्गाजी में उतरकर उछल-कूद मचाना चाहता था। मैं उसे मना करता, 'अरे ऐसा न कर, धूप में पाँव जलेंगे! पानी में मत कूद, सर्दी-बुखार हो जाएगा।' पर इन बातों को वह भला क्यों सुनने लगा? मानो कोई किसी अन्य से कह रहा हो। कभी वह अपने कमलदल—जैसे सुन्दर नेत्रों से मेरी ओर देखकर मुस्कुराता हुआ और भी अधिक ऊधम मचाने लगता। अथवा अपने दोनों होठों को फुलाये मुँह बनाकर मुझे चिढ़ाने लगता। तब मैं क्रुद्ध होकर उसे डाँटता-डपटता, नहीं मानने पर थप्पड़ भी जमा देता। मार खाने के बाद वह अपने दोनों सुन्दर ओठों को फुलाये सजल नेत्रों से मेरी ओर देखता रहता। उस समय मेरे मन में बड़ा कष्ट होता और मैं उसे गोद में लेकर स्नेहपूर्वक शान्त किया करता। मैं ठीक-ठीक ऐसा ही देखता और उसके साथ इसी तरह का व्यवहार किया करता।

'एक दिन जब मैं नहाने जा रहा था, उस समय वह भी मेरे साथ चलने के लिए हठ करने लगा। बाध्य होकर मुझे उसे ले जाना पड़ा। नहाने के बाद वह कैसे भी पानी से निकलना ही

नहीं चाहता था। मैंने कितना ही कहा, पर उसने एक-न सुनी। आखिरकार क्रुद्ध होकर मैंने उसके सिर को पानी में डुबोकर कहा—'ले, जितना चाहे पानी में रह।' तब मैंने देखा कि पानी के अन्दर सचमुच ही उसका दम घुट रहा है और उसका शरीर कांप रहा है। उस समय उसके कष्ट को देखकर, 'हाय, यह मैंने क्या किया!' कहते हुए मैंने उसे पानी से निकाला और गोद में उठाकर छाती से लगा लिया।

'एक दिन मेरे मन में उसके लिए कितना कष्ट हुआ था, मैं कितना रोया था, बता नहीं सकता। उस दिन रामलला के कष्ट को देखकर उससे चित्त को दूसरी ओर भुलाने के लिए मैंने उसे खाने को थोड़ी सी लाई दी थी। लाई में कुछ धान के छिलके भी लगे हुए थे। बाद में मैंने देखा कि उस लाई को चबाते-चबाते धान के छिलकों से उसकी नरम जीभ छिल गयी है। यह देखकर मुझे बड़ा खेद हुआ। मैं उसे गोद में लेकर जोरों से रोने लगा और उसकी ठोड़ी पकड़कर कहने लगा 'हाय, माता कौशल्या जिस मुख में खीर, मलाई, मक्खन आदि भी बड़ी सावधानी से खिलाया करती थीं, मैं इतना अभागा हूँ कि उस मुख में ऐसी तुच्छ चीज देते हुए मेरे मन में जरा भी संकोच नहीं हुआ।

'किसी-किसी दिन उन बाबाजी को रसोई बनाने के बाद भोग देते समय रामलला का दर्शन ही नहीं मिलता। उस समय वे दुःखी होकर दौड़ते हुए मेरे कमरे में आ पहुँचते और देखते ही रामलला वहीं खेल रहा है। उस समय वे क्षुब्ध होकर जो भी मन में आता, कह डालते। वे कहते--'तुझे खिलाने के लिए मैं इतनी रसोई बनाकर ढूंढ़ रहा हूँ और तू निश्चिन्त होकर यहीं खेल रहा है। तेरा स्वभाव ही ऐसा है। जो जी में आता है, तू वही करता है। तेरे हृदय में लेशमात्र भी दया नहीं है। पिता माता को छोड़कर तू वन चला गया, रोते-रोते पिता का देहान्त हो जाने पर भी तू नहीं लौटा, उनसे फिर नहीं मिला'—आदि बहुत कुछ कहते हुए वे रामलला को खींचकर ले जाते और उसे भोजन कराते। इसी प्रकार दिन बीतने लगे। उन साधु ने काफी दिनों तक यहाँ निवास किया था, क्योंकि रामलला मुझे छोड़कर जाना नहीं चाहता था और उनके लिये भी सदा से अपने परमप्रिय रामलला को छोड़कर चल देना सम्भव न था। तदन्तर एक दिन सहसा बाबाजी मेरे पास उपस्थित हुए और सजल नयनों के साथ मुझसे बोले--'मैं रामलला को जैसे देखना चाहता था, उसने कृपा करके तदनुरूप दर्शन देकर मेरे हृदय की प्यास मिटा दी है। उसने कहा है कि अब वह यहाँ से नहीं जायेगा, तुमको छोड़कर वह कैसे भी जाना ही नहीं चाहता, पर अब मेरे मन में कोई कष्ट नहीं है। तुम्हारे पास वह सुखपूर्वक रहता है, आनन्द में खेलता-कूदता है—यह देखकर मेरे चित्त आनन्द से भरपूर हो जाता है। अब मेरी यह धारणा हो चुकी है कि जिसमें उसे सुख मिले, उसी में मेरा भी सुख है। इसलिए अब उसे तुम्हारे पास रखकर मैं अन्यत्र जा सकूँगा। यह सोचकर कि वह तुम्हारे पास सुखपूर्वक रहता है,—उसके ध्यानमात्र से ही मुझे आनन्द प्राप्त होगा। इतना कहने के बाद रामलला को मुझे सौंपकर उन्होंने विदा ली। तभी से रामलला यहाँ हैं।"

श्रीरामकृष्ण के पुनीत संग से श्रीजटाधारी को यह बोध हो गया था कि उनके प्रेमास्पद रामलला सदा-सर्वदा उनके हृदय में विराजमान हैं और इच्छामात्र से उनका दर्शन प्राप्त होगा। इसी कारण वे अपने प्राणों से भी प्रिय रामलला के विग्रह को दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के पास छोड़कर तीर्थाटन करने चले गये और रामकृष्ण रामलला की लीलाओं का प्रत्यक्ष आनन्द लेने लगे।

रामं चिन्तय चित्तबर्बर चिरं चिन्ताशतः किं फलम्
किं मिथ्या बहुजल्पनेन सततं रे वक्त्र रामं वद।
कर्णं त्वं शृणु रामचन्द्रचरितं किं गीतवाद्यादिभिः
चक्षुः राममयं निरीक्ष सकलं रामात्परं त्यज्यताम्॥

भावार्थ—रे दुष्ट चित्त! सर्वदा राम का चिन्तन किया कर, दूसरी सैकड़ों प्रकार की चिन्ताओं से क्या लाभ? अरे मूर्ख, सर्वदा राम का नाम ले, बहुत सी निरर्थक मिथ्या वार्तों से क्या लाभ? रे कान, तू सर्वदा रामचरित सुन, गीत-वाद्यादि सुनकर क्या होगा? हे नेत्र, तू सब कुछ राममय देख, राम के अतिरिक्त बाकी सब त्याग दे।

*
*
□

अध्यात्म के बिखरे मोती (२)

—स्वामी यतीश्वरानन्द
अनुवादक– स्वामी ब्रह्मेशानन्द

साधना प्रारंभ करने के पूर्व निम्न बातें आवश्यक हैं: एक संयत जीवन आहार, व्यायाम प्राणायाम (संतुलित श्वास-प्रश्वास)। जहाँ तक आहार का प्रश्न है, वही खाओ जो तुम पचा सको। प्रत्येक साधक को यह पता लगा लेना चाहिए कि उसके लिए क्या अच्छा है। व्यायाम आवश्यक है। अपने पेट और मस्तिष्क का ख्याल रखो। शारीरिक और मानसिक अनुशासन आवश्यक है। साधना के सोपानों का यंत्रवत् नहीं बल्कि सचेतन, सोच-समझ कर अभ्यास करो। सही मनोभाव का निर्माण करो। श्वास-प्रश्वास पर ध्यान दो। यह अपने आप में एक छोटा मोटा ध्यान ही है। श्वास-प्रश्वास को नियंत्रित करने पर मन अपने आप भटकाव से लौट आएगा।

* * *

हमारी चेतना का एक निश्चित केन्द्र होना चाहिए। यह महत्त्वपूर्ण है। पूर्वी देशों के प्रतीकों

को प्रायः पाश्चात्यवासी नहीं समझ पाते। चेतना के सात केन्द्र (चक्र) होते हैं। भूख लगने पर पेट का, भावुक होने पर हृदय का भान होता है। सदा बुद्धि के केन्द्र (चक्र) भ्रूमध्य तक उठने का प्रयत्न करो और हृदय के नीचे न जाओ। भावुक व्यक्तियों को सिर को तथा अति विचारशील व्यक्तियों के लिए हृदय को चेतना का केन्द्र बनाना बेहतर है। इन (चक्रों) केन्द्रों को भौतिक कम और मानसिक/मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक समझना चाहिए।

स्नायविक केन्द्रों (चक्रों) सहित सुषुम्ना की एक सीढ़ी की तरह कल्पना करो। चिन्तन के विभिन्न स्तर विभिन्न मंजिलें हैं। स्नायु-प्रवाह ऊपर और नीचे की ओर प्रवाहित होता है। पहले अपनी चेतना के केन्द्र को निश्चित कर लो। वहाँ अनन्त आकाश का अनुभव करो, तुम्हारी व्यक्तिगत चेतना (का बिन्दु) जिसका केन्द्र है— कभी-कभी निम्न खिचाव के कारण तुम नीचे के केन्द्रों में चले जाते हो। इसे रोकने की पद्धति सीख लो। नियंत्रण का बिन्दु हमारे भीतर है, गुरुत्व केन्द्र हमारे भीतर है।

परमात्मा की प्रकाश के रूप में, लेकिन भौतिक प्रकाश के रूप में नहीं, कल्पना करो। चेतना के केन्द्र को ज्योतिर्मय सोचो। प्रतीकों की सहायता ली जा सकती है। कुछ कल्पना की भी गुंजाईश है। प्रतीक हमें उच्चतर और परमात्मा के निकट ले जाते हैं। देवता के ज्योतिर्मय रूप की अपनी चेतना के केन्द्र में बैठे हुए कल्पना करो। अथवा कल्पना करो कि तुम एक पक्षी हो और परमात्मा रूपी आकाश में उड़ रहे हो। इससे व्यापकता का अनुभव होता है। अथवा सागर और बुद्बुदों तथा उनके एकत्व की कल्पना करो। बुद्बुदे को सागर के साथ अपनी एकता का अनुभव करना है। बुद्बुदे को फोड़ा जा सकता है, तब वह सागर के साथ एक हो जाता है।

किसी पवित्र मंत्र का जप तथा उसके अर्थ का चिन्तन सबसे प्रभावशाली साधनाओं में से एक है। यह ध्यान में विकसित होता है, जिसका अर्थ है एक ही प्रकार के वृत्तिप्रवाह को बिना व्यवधान के बनाये रखना। यह परमात्मा में विलय तथा अन्ततोगत्वा ज्ञानालोक और जीवात्मा एवं परमात्मा के वास्तविक एकत्व में पर्यवसित हो जाता है।

साधक को शरीर और मन की समरसता और संतुलन के लिए प्रयास करना चाहिए। विभिन्न नियम विभिन्न लोगों को अनुकूल होते हैं। लेकिन सभी को देह और मन के बीच तारतम्य के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

परमात्मा के साथ एक निश्चित सम्बन्ध स्थापिता करना चाहिए। उन्हें पिता, स्वामी, माता, पुत्र अथवा प्रियतम समझा जा सकता है; और आत्मा की आत्मा भी। हमारी वास्तविक आत्मा देह मन से पृथक चैतन्य सत्ता है। हमें सदा चैतन्य का चिन्तन करना चाहिए।

ध्यान के पूर्व अपने को परमात्मा के अंश अथवा भगवान को सन्तान के रूप में सोचने का प्रयत्न करो। कहो, "मैं एक चैतन्य सत्ता हूँ।" अपनी इच्छा का भगवदिच्छा के साथ तादात्म्य स्थापित करो। हम अपने वास्तविक दिव्य स्वरूप में सभी लिंग-भेद से परे हैं। हमारा कोई पार्थिव सम्बन्ध नहीं है, जो सदा देह से सम्बन्धित रहते हैं। हम भगवान के रूप हैं, भगवान एक वृत्त हैं और हम मानों बिन्दुएँ हैं।

हमारा भगवद् प्रेम नाकारात्मक नहीं बल्कि साकारात्मक और सृजनात्मक होना चाहिए। हमें परमात्मा की पूजा और सेवा ईश्वरीय रूपों में ही नहीं बल्कि उन सभी रूपों में करनी चाहिए जिनके माध्यम से वे अभिव्यक्त होते हैं।

जब हम अपने को प्रभु की सन्तान समझते हैं, तब प्रारंभ में यह कल्पना होती है, लेकिन बाद में यह एक अनुभूति के रूप में सत्य हो जाती है। हम पूर्ण के अंश हैं, यह विचार साधक जीवन के प्रारंभ में केवल कल्पना रहता है। इसे साधना और अनुभूति के द्वारा यथार्थ करना चाहिए।

हमें आध्यात्मिक जीवन का समन्वित रूप ग्रहण करना चाहिए। आध्यात्मिक उपलब्धि के विभिन्न मार्ग हैं। ध्यान एक है, प्रार्थना दूसरा है, निःस्वार्थ सेवा भी एक मार्ग है। इसी तरह सृष्टिकर्ता ईश्वर, ईश्वर का एक रूप है, पालन और संहारकर्ता दूसरे रूप हैं।

कुछ लोगों में जन्म से ही अद्वैत के प्रति स्वाभाविक झुकाव रहता है। वे बुद्बुदे बने रहना नहीं चाहते पर सागर के साथ एक हो जाना चाहते हैं। यदि साधक इनमें से किसी भी रूप के प्रति निष्ठापूर्वक अग्रसर हो तो भगवान् की कृपा से वह परमात्मा के सभी रूपों तक पहुँच जाएगा। परमात्मा का हमसे सीधा संपर्क होना चाहिए। अपरोक्ष ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से श्रेष्ठ है।

* * *

भगवत् कृपा हमारे प्रयास के रूप में अभिव्यक्त होती है। पुरुषार्थ के द्वारा हम भगवान तक पहुँचते हैं। उन्हें प्राप्त करने पर चरम ज्ञान और शान्ति प्राप्त होती है। परमात्मा कहते हैं, "मेरे पास आओ। मैं तुम्हें ज्ञान और आनन्दप्रदान करूँगा।" हमें प्रभु की पुकार के अनुरूप कार्य करना चाहिए।

दो प्रकार भाव होते हैं :

(i) बन्दर के बच्चे जैसे

(ii) बिल्ली के बच्चे जैसे

प्रथम प्रकार के बच्चे माँ जगदम्बा से चिपके रहते हैं, दूसरे प्रकार के सब कुछ माँ जगदम्बा पर छोड़ देते हैं जो भक्त के लिए जो कुछ आवश्यक है, करती है। कुछ पुरुषार्थ पर बहुत बल देते हैं, दूसरे शरणागति पर, और कुछ लोग ऐसे हैं, जो भगवान के सामने घुटना नहीं टेकना चाहते। वे सभी सीमाओं के ऊपर उठकर परमात्मा के साथ एक होना चाहते हैं।

भक्त सोचता है, 'मैं तेरा हूँ, ज्ञानी सोचता है, मैं ही तू हूँ। दोनों में भगवान् के लिए तीव्र व्याकुलता है; अनन्त को तीव्र पिपासा है। दोनों की तुलना करो। पहला भक्त कहता है" नाहं, नूहूँ— मैं कुछ नहीं हूँ, तू ही सब कुछ है। ज्ञानी कहता है, "सोऽहं, मैं तुमसे भिन्न नहीं हूँ।" वह अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को नकारता है और स्वयं को परमात्मा से अभिन्न सोचता है। उसमें अहंकार विलुप्त हो जाता है। निम्न धरातल पर ये दोनों एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। उच्च स्तर पर अन्तर बहुत कम होता है।

हमें यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिए और बाकी काम प्रभु करेंगे। हमें अपनी गलतियों से भी लाभ उठाना चाहिए। धन्य हैं मुरियाँ, यदि वे हमें समझदार बनायें। निष्ठा ईमानदारी का पुरस्कार मिलेगा। भगवान् हमारी ईमानदारी को देखते हैं।

* * *

आध्यात्मिक विषयों में भी माँग और पूर्ति का सार्वलौकिक नियम लागू होता है। परमात्मा हमारी प्रयोजन की पूर्ति करता है, हम जो चाहते हैं, वह नहीं। हम भगवान् की परवाह न भी करें तो भी वह हमें नहीं छोड़ता, वह हमारे सामने अभिव्यक्त होने के अवसर की प्रतीक्षा करता है। यह भगवत् कृपा है।

ईमानदार बनो और अपने पुरुषार्थ का फल प्रभु पर छोड़ दो। हमारा आन्तरिक प्रयास उसके

परिणाम से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि किसी उन्नत क्षण में हम परमात्मा के संस्पर्श में आ जाये, तो सब कुछ मिल जाय। हमें ध्यान, नैतिक आचरण, निःस्वार्थ सेवा इत्यादि की सहायता से भगवत् साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इन्हें कर्तव्य के रूप में करना चाहिए। सदा कुछ सत्शास्त्रों का अध्ययन करो। स्वाध्याय को दैनन्दिन साधना का अंग समझना चाहिए। जो उसके बिना पूर्ण नहीं होती। जीवन के कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। उनसे जी न चुराओ। वे भी हमारी साधना के अंग हैं, वे एक प्रकार की साधनाएँ हैं। सभी प्रकार के कर्मों को सेवा के रूप में करना चाहिए। तब कर्म पूजा बन जाता है। कहो : "यत्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्"—मैं जो कुछ करता हूँ, प्रभु वह तुम्हारी ही आराधना है।

* * *

साधना के लिए अधिक समय देने का, तथा व्यर्थ बातचीत, व्यर्थ चिन्तन और मानसिक चांचल्य के लिए कम समय देने का प्रयत्न करो। तब तुम अधिक तीव्रता के साथ बेहतर ध्यान कर सकोगे। तुम अपने कर्म भी अधिक सन्तुलित तरीके से कर सकोगे।

कुछ लोग कर्म में बहुत अधिक डूबे रहते हैं। कुछ लोग केवल साधना करते रहते हैं, पर असफल होते हैं। कर्म और उपासना साथ-साथ होने चाहिए। कर्त्तव्य से जी न चुराओ। आन्तरिक और बाह्य जीवन सन्तुलित होना चाहिए। कर्म को उपासना में रूपान्तरित करो। सभी कर्म को परमात्मा को समर्पित करो।

जीवन को व्यवस्थित करना आवश्यक है। सदा याद रखो : हम आध्यात्मिक प्राणी हैं, शरीर में निवास कर रही आध्यात्मिक इकाईयाँ। मुख्य भाव यह है : देह एक यन्त्र, एक मन्दिर, एक देवालय है; हमें देह का सुचारु उपयोग करना चाहिए। इसे परमात्मा का निवास समझना चाहिए, नैतिक विकास के दो मार्ग हैं :

1. नैतिक आचरण करना

2. दृष्टिकोण का परिवर्तन करना और तब नियम पालन करना आसान हो जाता है। अपने कर्त्तव्यों को बेहतर दृष्टिकोण से करो।

हम कुछ समय के लिए संसार से दूर जा सकते हैं, भले ही यह कुछ स्वार्थ पर हो। और उसके बाद वापस लौटकर हम दूसरों से उच्चतर मनोभाव से व्यवहार करेंगे। देने के लिए कुछ संचय किए बिना दूसरों की सेवा नहीं की जा सकती।

* * *

शास्त्र के अंशों का मननपूर्वक अध्ययन प्रतिदिन निश्चित समय पर करना आवश्यक है। यह अन्य साधनाओं जितना ही महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह साधना निश्चित समय पर अवश्य की जानी चाहिए और उसे कभी भी टालना नहीं चाहिए। इससे हमारी इच्छा शक्ति का भी विकास होता है। इन सभी बातों का उद्देश्य हमारी सभी मानसिक प्रक्रियाओं पर सचेतन नियंत्रण स्थापित करना है।

सजग/सचेतन जीवन एक रोचक जीवन होता है। हममें से अधिकांश लोग आधे जाग्रत और आधे कल्पना-जगत में रहते हैं। अचेतन मानसिक क्रियाओं को निश्चित चिन्तन का रूप लेना चाहिए। तभी जीवन जीने लायक होता है। अपने देहात्म बोध को कम करो।

मन को तरो-ताजा रखो, एक युवक का-सा मन रखो। पुनः बालक बन जाओ। पुनर्जीवित

होओ। मानसिक ताजगी अति आवश्यक है। इसका प्रयत्न पूर्वक विकास करो। परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करो। जीवनदायक जल प्रवाहित हो रहा है। द्वार खोल दो। खिड़कियाँ खोल दो। दूषित वायु को निकल जाने दो। सदा भीतर ताजगी बनाये रखो।

* * *

वेदान्त सभी जीवों की प्रच्छन्न दिव्यता में विश्वास करता है। वह मानवों के स्तर-निर्धारण में विश्वास नहीं करता। प्रत्येक जीव को अपनी अन्तर्निहित दिव्यता को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रतता होनी चाहिए। अपने भावों को बनाये रखो और दूसरे धर्मों के विचारों को आत्मसात् करने का प्रयत्न करो। हम हिन्दू हृदय परिवर्तन और चित्त शुद्धि में विश्वास करते हैं, लेकिन भगवान से एकत्व स्थापित किये बिना हम संतुष्ट नहीं होते। तुम चाहो तो इसे हमारा धर्ममत कह सकते हो। हमारा धर्ममत परमात्मा का धर्ममत है।

जीव और परमात्मा का सम्बन्ध वास्तविक धर्म है। आध्यात्मिक जीवन में धर्म और दार्शनिक सिद्धान्त दोनों आवश्यक हैं; धर्म सिद्धान्त-परिकल्पना को आध्यात्मिकरण करता है, और दार्शनिक सिद्धान्त धार्मिक दृष्टिकोण को उदार बनाता है। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों साथ-साथ होने चाहिए। वास्तविक शान्ति प्राप्त करने के लिए हमें धर्म और दर्शन, विश्वास और विचार, दृष्टिकोण और मनोभावों की तीव्रता और उदारता का समन्वय करना चाहिए। हमें सागर की तरह गहरे और आकाश की तरह व्यापक होना चाहिए। नैतिक आदर्शों का कड़ाई से पालन, कर्त्तव्यों का बारीकी से पालन और लगन-पूर्वक आध्यात्मिक साधना अन्तर्यामी परमेश्वर के साक्षात्कार के उपाय हैं। अपने धर्ममत अपने पास रखो। दूसरों को उन्हें स्वीकार करने को न कहो। अपने धर्ममत से ऊपर उठो। परमात्मा न तो हिन्दू है, न ईसाई, और न ही बौद्ध। श्रीरामकृष्ण कहते हैं: अपने को जानो, तो तुम भगवान् को जान जाओगे। सभी एक ही जल को, जीवन-जल को (स्रोत से) खींच रहे हैं। परमात्मा सर्वत्र हैं, उन्हें सर्वत्र खोजो। भगवान् नाना रूपों में दिखाई देते हैं। वे सब हैं, और अधिक भी हैं। अन्त में वे अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करते हैं, भगवान् के किसी भी रूप को स्वीकार कर लो। किसी भी रूप का अनुसरण करो। लेकिन याद रखो कि प्रत्येक देवी रूप एक विशेष बिन्दु है। हमें विशेष बिन्दु से ऊपर उठकर वृत्त को, सर्वव्यापी अनन्त परमात्मा को प्राप्त करना है। विकास का एक नियम है, उसका पालन करो।

ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न उपाय हैं, (किसी एक) पथ का अनुसरण करो और उसके बाद उस धर्ममत का अतिक्रमण कर परमात्मा के मत को ग्रहण करो। हमारे जीवनका विस्तार होना चाहिए। सब की सेवा करो, स्व-केन्द्रित मत बनो। हृदय का विस्तार--आत्मा के विकास को यह कसौटी, मापदण्ड है। दूसरों के प्रति हमारा दृष्टिकोण दया, सहायता का नहीं बल्कि, पूजा का होना चाहिए। तुम्हारे द्वारा दूसरों की सहायता को परमात्मा की सेवा समझना चाहिए। मानव में भगवान् को, सभी में परमात्मा की सेवा करो।

हमारा आदर्श—दूसरों में परमात्मा की सेवा करने के लिए पहले स्वयं दिव्य बनना, होना चाहिए। हमें यह सचेतन रूप से तथा व्यवस्थित रूप से करना चाहिए। कर्म का रहस्य जानने पर वह आराधना बन जाता है। 'उठो, जागो और लक्ष्य प्राप्ति तक मत रुको।' हम जितनी

प्रगति करते हैं, उतना ही आनन्द, शान्ति और धन्यता प्राप्त करते हैं।

अपनी वास्तविक आत्मा का अनुसन्धान करते हुए हम परमात्मा तक पहुँच जाते हैं। तब अहंकार परमात्मा के साथ संयुक्त हो जाता है। अहंकार के आध्यात्मिकरण से हम मुक्त हो जाते हैं। स्वामित्व के भाव के बदले हमें न्यासी का मनोभाव रखना चाहिए। परमात्मा के साथ प्रत्येक सम्बन्ध शक्ति प्रदान करता है। जब हम लोगों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करना चाहते हैं तब समस्या होती है। सभी लोगों और वस्तुओं को परमात्मा में तथा परमात्मा के माध्यम से देखो। अथवा यह सोचने का प्रयत्न करो कि हम सभी प्रभु के दास, प्रभु की संतानें हैं।

* * *

दूसरों के साथ व्यवहार करते समय आवश्यक अनुपात बनाये रखना कठिन होता है। दृढ़ रहो, जिससे दूसरे तुम्हारा नाजायज फायदा न उठा सकें। चिड़चिड़े, तुनकमिजाज, अतिसंवेदनशील और अधीर मत होओ। प्रत्येक साधक को सही दृष्टिकोण अपनाना सीख लेना चाहिए। परिस्थितियों को यथासंभव शान्ति से स्वीकार करो। वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न करो। अमन-चैन के लिए मेल-मिलाप बनाये रखो और याद रखो कि हमें मानवों के साथ व्यवहार करना है। हम प्रायः दूसरों को कोसते हैं। कुछ लोग शुभ, शीतल, शान्तिदायक स्पन्दन और अन्य लोग अशुभ विचार और स्पन्दन प्रस्तारित करते हैं।

अपने तथा भगवान् के प्रति ईमानदार रहो, तब दूसरों के प्रति ईमानदार होना आसान हो जाएगा। परमात्मा को एकमात्र सत्य जानो और अन्य सभी को उनके अस्तित्व के लिए उनपर आश्रित समझना सीखो।

प्रत्येक परिस्थिति में तुम्हारा जो करणीय है, करो। लेकिन वातसूचक (जो वायु के अनुरूप अपनी दिशा बदलता रहता है) की तरह मत होओ। अपने मनोभावों और दृष्टिकोणों को निरंतर बदलो मत। स्वयं को अस्थिर मत होने दो। तुम्हारा जीवन तुम्हारे आदर्शों द्वारा नियोजित होना चाहिए। कभी-कभी हम दूसरों पर बहुत अधिक आश्रित हो जाते हैं, दूसरों के अत्यधिक मुखापेक्षी हो जाते हैं। लेकिन मानव आश्रय बहुत क्षणभंगुर आश्रय है। कुछ लोगों का गुरुत्वकेन्द्र भीतर होने के बदले बाहर होता है। तुम्हारा गुरुत्वकेन्द्र भीतर होना चाहिए। उच्चतर-आत्मा तुम्हारे व्यक्तित्व का केन्द्र होना चाहिए। लेकिन एक भय है ...हम स्व-केन्द्रित, अहं-केन्द्रित हो जाते हैं। अतः हमें सोचना चाहिए कि आत्मा, परमात्मा का अंश है और हमारे भीतर का केन्द्र एक व्यापक आकाश का केन्द्र है। परमात्मा से संपर्क का बिन्दु हमारे भीतर है। अपनी चेतना के केन्द्र को पकड़े रहो, लेकिन उसके चारों ओर व्याप्त अनन्त चैतन्य को न भूलो। कुछ लोग पहले अहं-केन्द्रित होते हैं, लेकिन बाद में परमात्मा में केन्द्रित हो जाते हैं। साधना के प्रारम्भ में कुछ साधक कुछ समय के लिए स्व-केन्द्रित हो जाते हैं। तब इसका निवारण करने के लिए उन्हें कुछ निःस्वार्थ कर्म करने पड़ते हैं। सुचारू रूप से किये गये कर्म व ध्यान जप भी अपने क्षुद्र-अहं से ऊपर उठने में सहायक होकर हमें अहं-केन्द्रित और स्वार्थी न बनने में सहायक होंगे। हमें दूसरों के सहारे बढ़ने का प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिए।

* * *

विषाद और अन्धकार से होते हुए ही हम प्रकाश तक पहुँचते हैं। ज्यों-ज्यों हम प्रगति करेंगे, त्यों-त्यों अन्धकार कम होता जायेगा और अन्त में हम प्रकाश तक पहुँच जायेंगे। महान

सन्तों और योगियों को भी अन्धकार और विषाद के काल का अनुभव करना पड़ा था। ऐसे समय में उच्चतर आध्यात्मिक चिन्तन ही हमारा सम्बल होना चाहिए।

हम दूसरों को देखते हैं, स्वयं को नहीं देखते। यही हमारी समस्या है। वेदान्त कहता है कि हम अपने विचारों के साक्षी हैं। हम साक्षी भाव को अधिकाधिक दृढ़ और विकसित करना चाहिए। हमें अपना विश्लेषण इस तरह करना चाहिए मानो हम कोई दूसरे व्यक्ति हों। बहुधा साक्षी सोया रहता है। उसे जाग्रत करो। जब कोई बुरा विचार मन में उठे तो उसे पहचानो। सामान्यतः विचार हमारे अन्तरतम प्रदेश से उठते हैं, लेकिन वे किसी बाह्य संवेदन से भी आ सकते हैं। इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा रहा आहार पवित्र होना चाहिए। अतः सदा चौकन्ने रहो।

हमें किसी भी क्षण अपनी प्रिय मान्यताओं को त्यागने के लिए पूरी तरह तैयार रहना चाहिए, यदि हम उन्हें असत्य पायें। यदि हम बढ़ना चाहते हैं तो हमें अपने संपूर्ण दृष्टिकोण को बदलना होगा। मृत्यु के पूर्व हमें कुछ-न-कुछ ठोस आध्यात्मिक उपलब्धि होनी चाहिए।

आध्यात्मिक मुक्ति की महंगी कीमत चुकाने के लिए कौन तैयार है? हम उपाय, आध्यात्मिक पद्धति जानते हैं, महापुरुष भी हमें सहायता करने के लिए तत्पर हैं, लेकिन हम इतने विकृत स्वभाव के हैं कि प्रयास को टालते जाते हैं और स्वयं सत्य के साक्षात्कार की चिन्ता किये बिना कुछ अच्छे विचारों से बौद्धिक आनन्द लेते रहते हैं। हम मोह और लोभ के तथा आत्म-तुष्टि के अपने क्षुद्र, घृणास्पद, दयनीय स्वप्न देखते रहते हैं, तथा तब तक उनसे चिपके रहते हैं जब तक वे हमारी पकड़ से छीन नहीं लिए जाते।

वर्षों बाद हम अपने से पूछते हैं: "मैंने क्या पाया? इस जीवन से मैंने क्या पाया?" हम सभी को ऐसा जीवन यापन करना चाहिए कि हमें आध्यात्मिक जीवन में कुछ ठोस उपलब्धि हो। हमें अन्तरस्थ दिव्य ज्योति की कम-से-कम कुछ झलक तो प्राप्त होनी ही चाहिए। निष्ठापूर्वक, विधिवत् साधना करने वाला पवित्र जीवन यापन करने वाला, तथा भगवान से आन्तरिक प्रार्थना करने वाला कोई भी व्यक्ति निराश नहीं होगा। जीवन एक प्रशिक्षण है और हमें प्राप्त अल्प काल का सर्वोत्तम उपयोग करना चाहिए।

सांसारिक तथा अपनी व्यक्तिगत आसक्तियों से चिपके लोग ही मृत्यु से डरते हैं। आध्यात्मिक मनोवृत्ति वालों के लिए कुछ भी खोने लायक नहीं है। उनके लिए मृत्यु का अर्थ स्थूल धरातल से सूक्ष्म धरातल पर जाना है। देह मृत्यु को प्राप्त होती है। आत्मा कभी नहीं मरती। यदि इस जीवन संग्राम में हम असफल भी होवें, तो भी नये-नये जन्मों के माध्यम से हम परिवर्धित उत्साह के साथ प्रयत्न करेंगे। क्रमशः एक स्तर से दूसरे पर अग्रसर होते हुए हम जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करेंगे।

हमारे देह, मन और यह सारा जीवन किस पर निर्भर है? चैतन्य पर किसी पुरुष, स्त्री अथवा बालक के रूप पर नहीं।

स्वामी विवेकानन्दजी का लिंबड़ी में आगमन

—स्वामी निखिलेश्वरानन्द

"हे जगदंबे तू ही मेरी रक्षा कर।" स्वामी विवेकानन्दजी के हृदय से अतिनाद निकला! अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्णदेव के नाम का निरंतर जप और जगदंबा से, व्याकुल प्रार्थना करने के सिवाय अब उनके पास अन्य उपाय भी क्या था? जिस कमरे में उनको बंदी बनाया गया था, उसमें टहलते-टहलते वह सोचने लगे, "अब इस परिस्थिति में क्या करूँ?" तत्कालीन घटनाओं के दृश्य उनके मनःचक्षुओं के आगे, एक के बाद एक आने लगे! कुछ ही दिन पहले, वह राजस्थान में खेतड़ी के राजा अजीत सिंह के अतिथि थे, उनका कितना आदर-सत्कार हुआ था! खेतड़ी के राजा तो उनके शिष्य हो गये थे। अहमदाबाद के सब जज श्री लाल शंकर उमिया शंकर त्रवाडी ने उनका कैसा भव्य स्वागत किया था। कैसा प्रेमभरा आतिथ्य, उन्होंने दिनों तक भोगा था। अहमदाबाद में जैन धर्म का अभ्यास करके, वह पैदल बढवाण आये थे। वहाँ सती राणक देवी के दर्शन करके, भारतीय संस्कृति के विवाह-संस्कार की उदात्तता के बारे में सोचते सोचते, वह कुछ ही दिन पहले थके हुए, संध्या के समय लिंबडी पहुँचे थे! शहर के किनारे, एक मकान में जहाँ साधुओं का आश्रम था, वहाँ आश्रय लिया। किंतु अफसोस! यह तो वाममार्गियों का अड्डा निकला। कल रात को, पास के कमरे से विचित्र मंत्रोच्चार और नारी कण्ठों की ध्वनियाँ सुनकर उन्हें शंका हुई कि धर्म के नामपर ढोंग और बुरे कर्म करने वाले कुछ संप्रदायों के बारे में पूर्व जीवन में सुने हुए कुछ ठग-पाखंडी बाबाओं का यह अड्डा तो नहीं होगा? इस विचार से वहाँ से भाग जाने का निर्णय किया। किंतु यह क्या? कमरा तो बाहर से बन्द था। वह तो कैदी बन चुके थे। आज सुबह साधुओं के महंत ने जो विचित्र माँग की थी, उससे तो स्वामीजी चौंक उठे। महंत ने कहा था, "आप में कोई प्रभावशाली साधु हैं। आप अवश्य वर्षों से ब्रह्मचर्य का पालन करते होंगे। आप अपनी लंबी तपस्या का फल हमें दीजिए। हमारी एक खास सिद्धि के लिए, आपके ब्रह्मचर्य को भंग करवाना पड़ेगा। उसके द्वारा हमें सिद्धि प्राप्त होगी।"

"हे प्रभु! ऐसी कठोर कसौटी। दिनों तक पैदल चला हूँ, तीन-तीन दिनों तक बिना खाये-पीये काम चलाया है, कितनी बार मौत के मुख से बचा हूँ! अब तक परमपद की प्राप्ति नहीं हुई तो इस देह को जोखिम में रखने से क्या लाभ? ऐसा सोचकर एक बार जंगल में भूखे बाघ से कहा था, "ले भाई, इस देह को खाकर तू अपनी भूख को मिटाकर संतोषकर! ऐसा कहकर, आँखे बंद करके मृत्युदेव की प्रतीक्षा में पड़ा था किंतु बाघ तो वहाँ से चला गया। प्रभु, तुमने कितनी विपदाओं से मुझे बचाया है! अब, इन ढोंगियों से बचाओ।" इस तरह प्रार्थना करते-करते वह कमरे में चक्कर मार रहे थे। अचानक रुक गये और मन में दृढ़ निश्चय किया—"नहीं नहीं, जान भले जाए, जीवन भर के लिए लिये हुए अपने ब्रह्मचर्य व्रत को तो भंग नहीं होने दूँगा।"

इतने में किसी ने दरवाजा खटखटाया। अरे!

यह तो दूधवाला लड़का! कुछ ही दिनों में वह तरुण बालक स्वामीजी का चाहक और मित्र बन गया था। दूध देते हुए बालक ने पूछा "स्वामीजी आज बिलकुल उदास लगते हैं? आप की मैं क्या सेवा कर सकता हूँ?" स्वामीजी गंभीर विचार में डूब गये। अचानक उन्हें एक उपाय सूझा। लिंबडी के ठाकुर साहब की उदारता और योग्यता के बारे में उन्होंने बहुत कुछ सुना था। "क्या वह मुझे नहीं छुड़वाएंगे? ऐसा सोचकर, उन्होंने तुरन्त ही आसपास देखा। पत्थर का एक टुकड़ा मिला। कोयले से उस पर लिखा "साधु भय में है"—और उस दूधवाले बालक के हाथ में देकर कहा—"मेरा इतना काम करोगे? यह सन्देश शीघ्र ही ठाकुर साहब के पास पहुँचा सकोगे? किसी को खबर नहीं लगनी चाहिए।" छोटे बालक ने यह काम स्वीकार कर लिया। पत्थर को चादर के नीचे छिपाकर तुरन्त ही राजमहल की ओर भागा। किंतु प्रवेशद्वार पर दरबानों ने उसे रोका। तब ठाकोर साहेब राजमहल की छत पर चक्कर काट रहे थे। उन्होंने देखा कि नीचे दरबान, एक लड़के के साथ कुछ बकझक कर रहा है। न मालूम उन्हें क्या सूझा, उन्होंने दरबानों को ऊपर से ही लड़के को प्रवेश देने की आज्ञा दी। लड़के ने स्वामीजी का सन्देश दिया। उसी वक्त ठाकुर साहब ने सिपाहियों को बाबाओं के अड्डे पर भेजकर स्वामीजी को मुक्त करवाया और उन्हें सम्मानपूर्वक, राजमहल में ही रहने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने जब इस पूरी घटना का वर्णन किया तब ठाकुर साहब अति क्रोधित हुए और तुरन्त वाममार्गी बाबाओं का अड्डा बन्द करवाया।

ठाकुर साहब ने स्वामीजी से भविष्य में अपना निवास रखने में सावधान रहने को कहा। स्वामीजी भी यह सबक मिलने पर, बाद में रात्रि निवास करते समय सावधान रहने लगे। बड़ा मनोहर था यह राजमहल। ठाकुर साहब ने प्रयत्न पूर्वक, यह राजमहल पाँच लाख रुपयों में काठियावाड़ एजन्सि के इंजीनियर मि० बुश साहेब की निगरानी में, १८८१ में तैयार करवाया था। अमेरिका के टाऊन हॉल के प्लान के मुताबिक, उसका निर्माण करवाया था। महल के ऊपर एक मीनार बनवाकर, उसपर सार्वजनिक उपयोग के लिए, चारों ओर से दिखाई दे, ऐसी एक बेशकीमती छड़ी लगवायी थी। ठाकुर साहब ने विशेष रूप का विलायती फर्नीचर लगाकर महल की शोभा में अभिवृद्धि की थी। बम्बई के गवर्नर लार्ड रे साहेब ने १८८९ ई० में इस महल में हुए समारोह में, महल के बारे में प्रशंसा के उद्गार व्यक्त करते हुए कहा था "इस समय मैंने जहाँ आसन ग्रहण किया है, जिसका साज-श्रृंगार, स्थापत्य आपको रस ज्ञानता का सुन्दर तौर से परिचय कराते हैं। इस राजमहल के आगंतुकों में, मैं प्रथम गवर्नर होने के नाते, अपने को भाग्यशाली समझता हूँ। पूरा हिंदुस्तान जिसके लिए गौरवानन्द का अनुभव करता है, उस प्रसिद्ध चित्रकार श्रीमान वानरुव को राजमहल की दीवारें सजाने के लिए चुन करके उनकी सच्ची योग्यता को आपने पहचाना है।"

राजमहल के दरबार हॉल में, स्वामीजी के साथ ठाकुर साहब घंटों तक बातें और चर्चा करते। कुछ ही दिनों में दोनों के बीच गहरी मित्रता हो गयी। स्वामीजी की विद्वत्ता, उनकी तेजस्विता, उनकी आध्यात्मिक शक्ति आदि से ठाकुर साहब प्रभावित हो गये। दोनों अपने-अपने जीवन के प्रसंगों की चर्चा करने लगे। स्वामीजी को इस बात से आनन्द हुआ कि ठाकुर साहब केवल कुशाग्र बुद्धि के राजा ही नहीं बल्कि महान आध्यात्मिक साधक भी हैं। ठाकुर साहब यशवंत सिंहजी स्वामीजी से केवल चार ही साल बड़े थे

इसलिए दोनों युवक होने के कारण दोनों के बीच परस्पर गहरी मित्रता हो गयी। ठाकुर साहब का जन्म २३ मई, १८५९ ई० को सोमवार के दिन लिंबड़ी में हुआ था। माताजी महाराणी हरिबा, अति धर्म परायणा थी। स्वामी विवेकानन्द की माताजी भुवनेश्वरी देवी की तरह श्री शंकर भगवान के प्रति अति श्रद्धालु थीं। कोई भी अच्छी चीज शंकर भगवान के आगे रखे बिना, स्वयं खाती नहीं थीं। राजकुमारों को भी खाने नहीं देती थी। इसलिए राजकुमारों में (यशवंत सिंहजी और उनके छोटे भाई (उदय सिंहजी) में भी भक्ति और श्रद्धा के बीज, बचपन से ही बोये हुए थे। यशवंत सिंह जी ने सिर्फ ३ वर्ष की उम्र में अपने पिताजी फतेह सिंह जी को खोया था, किन्तु माताजी हरिबाने यह हानि पुत्रों को अनुभव नहीं होने दी। राज्य का कार्यभार सम्हालते-सम्हालते, राजकुमारों को सम्हालना, उनको शिक्षा (शिक्षण) देने का कार्य वह स्वयं करती थी।

१८७१ में यशवंत सिंह जी, राजकोट के राजकुमार कॉलेज में अध्ययन के लिए दाखिल हुए। थोड़े ही समय में प्रथम पंक्ति के विद्यार्थी बनकर प्रसिद्धि प्राप्त की। कॉलेज के प्रिन्सिपल श्री मकमोहन साहब ने पुरस्कार वितरण समारोह में कहा "अभ्यास और सद्व्यवहार में सभी राजकुमारों में राजकुमार श्री यशवंत सिंह जी आगे हैं, ऐसा कहते हुए मुझे बहुत आनन्द होता है।" उनकी पढ़ाई चल ही रही थी, तभी उनका विवाह हुआ। तब बहुतों को ऐसा लगा कि उनकी पढ़ाई पर विवाह का असर होगा। परन्तु यशवंत सिंह जी उसमें चलायमान नहीं हुए। उन्होंने दृढ़तापूर्वक अपने मित्र से इस विषय में कहा, "अपूर्व सुखानन्द में डूबने की मेरी यह अवस्था है ऐसा मैं नहीं मानता। ब्रह्मचर्य पालन की और विद्याभ्यास करने की मेरी यह अवस्था है। शादी होते हुए भी शादी के व्यवहार में नहीं पड़ूँगा और अपनी पढ़ाई आगे चलाऊँगा। इस तरह उन्होंने जो कहा वह करके दिखाया।

ई० सन् १८७६ के अप्रैल की छठी तारीख को यशवंत सिंह जी इंग्लैंड यात्रा के लिए रवाना हुए। काठियावाड़ के किसी राजा ने इसके पहले परदेश की यात्रा नहीं की थी। अन्य लोगों ने इस विदेश यात्रा को प्रोत्साहन नहीं दिया किंतु, उनका मनोभाव ऊँचा और निश्चय दृढ़ था। अपनी दैनन्दिनी ने उन्होंने लिखा, "इंग्लैंड की यात्रा करने का मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है। राजगद्दी पर अधिष्ठित होने से पहले ही ज्ञान और अनुभव पाने की आवश्यकता है। यह आवश्यकता यात्रा द्वारा व्यापक रूप में पूर्ण हो, ऐसा सम्भव है। इंग्लैंड में श्री यशवंत सिंहजी ने, कुशलतापूर्वक सभी पहलुओं का, निष्ठापूर्वक अध्ययन किया। बहुत से महान व्यक्तिओं का परिचय प्राप्त किया। जर्मनी की महारानी के साथ बातचीत में उन्होंने जो कहा, उससे उनकी देशभक्ति का सबूत मिलता है। आप इंग्लैंड को किस हद तक चाहते हैं?" इस प्रश्न के उत्तर में जर्मनी की महारानी से कहा "इंग्लैंड को मैं अनेक प्रकार से चाहता हूँ। किंतु इंग्लैंड के प्रति चाहने में और भारत के प्रति चाहने में बड़ा अन्तर है, यह कहे बिना नहीं रह सकता। माता और जन्मभूमि को एक स्वरूप मानता हूँ। माता से बिछुड़े हुए बालक का अन्यत्र, भली-भाँति लालन-पालन होने पर भी, अन्यत्र घर से ज्यादा मनोरंजन होता हो फिर भी जब माता से पुनः मिलन हो जाय तब उसे जो आनन्द होता है, वह अपूर्व होता है। इसी तरह इंग्लैंड में मुझे ज्ञान व अनुभव मिल सकता है, इंग्लैंड के लोगों के व्यवहार से बहुत सा अनुभव मिल सकता है। यहाँ का दिखावा, यहाँ के उद्योग से, यहाँ की करामातों से अति आनन्द प्राप्त होता है; फिर भी

जा मैं अपनी मातृभूमि--जन्मभूमि की तरफ लौटूंगा तब मुझे जो आनन्द प्राप्त होगा, वैसा आनन्द मुझे यहाँ कदापि नहीं मिलेगा।"

१ ली अगस्त, १८७७ के दिन, यशवन्त सिंहजी राज्यासन पर बिराजे। अल्प समय में ही, अपनी विरल बुद्धिमत्ता, कुशलता और नीति परायणता के कारण वे लोकप्रिय हो गये। उनकी असाधारण कुशलता और आश्चर्यजनक चतुरता देखकर बम्बई सरकार ने १८८४ में, उन्हें विधान सभा (Regislative Council) का सदस्य नियुक्त किया। काठियावाड़ के राजाओं में से ऐसा गौरवप्रद पद, अन्य किसी को नहीं मिला था।

बहुत से लोकोपयोगी कार्य के उपरान्त, वह अपनी आत्मिक उन्नति के लिए भी, अविरत प्रयत्नशील रहते। नियमिता ज्ञानचर्चा और सत्संग करते। अनेक ग्रन्थों का अध्ययन वह करते। १८७९ से १८८३ तक उन्होंने अनेक ग्रन्थों का अवलोकन किया। मिल, स्पेन्सर, बर्कले, शेक्सपीयर, मिल्टन, स्माइल, कोबेट आदि अनेक अंग्रेज ग्रन्थकारों की पुस्तकों का अध्ययन किया। ततपश्चात मनुस्मृति, भर्तृहरि कृत नीतिशतक और वैराग्य शतक, योग बाशिष्ठ, रामायण-महाभारत आदि बहुत से संस्कृत तथा हिन्दी भाषा के ग्रन्थों, काव्य-नाटकों एवं ऐतिहासिक पुस्तकों का अध्ययन किया। २१ जून १८८७ को, इंग्लैंड में जुबिली महोत्सव धूमधाम से मनाया गया। इस अवसर पर महारानी विक्टोरिया का स्वागत करने के लिए, कुछ चुने हुए भारतीय राजा लोग गये थे। उनमें श्री यशवंत सिंह जी भी थे। इस दूसरी बार की विदेश यात्रा में उन्होंने, इंग्लैंड के अलावा अमेरिका की यात्रा भी की तथा अपना ज्ञानवर्द्धन किया। इंग्लैंड में महारानी ने स्वयं अपने हाथों से, उन्हें के० सी० आई० ई० (K. C. I. E.) का खिताब दिया। अमेरिका के प्रेसिडेंट क्लिवलैण्ड ने व्हाईट हाउस में उनका स्वागत, उत्साहपूर्वक किया। ठाकुर साहब ने स्वामीजी से अपना जीवन वृत्तांत कहा। अपने विदेश के अनुभवों की बात कही। स्वामीजी को विदेश जाने का सुझाव दिया। स्वामीजी को विदेश जाकर विजय-दिग्विजय करने की प्रेरणा देने में वह सर्वप्रथम थे।

ठाकुर साहब की कोई संतान नहीं थी। वह स्वभाव से ही आध्यात्मिक वृत्ति के थे। अल्प समय में ही (२५ अगस्त, १८९१) उनके छोटे भाई श्री उदय सिंहजी की मृत्यु से, वह संसार की असारता समझ गये। वह अध्यात्म एवं दर्शन की बातें सुनने को विशेष आतुर रहा करते थे। स्वामीजी के अगाध आत्मज्ञान से प्रभावित होकर ठाकुर साहब ने स्वामीजी से मंत्र दीक्षा ली और उनके शिष्य हो गये।

दरबार हॉल और नजदीक के अंकलेश्वर महादेव के मंदिर में, संस्कृत के पंडितों के साथ, स्वामीजी धार्मिक चर्चाएं चलाते। अंकलेश्वर मंदिर के पुजारी श्री वैजनाथ मोतीराम भट्ट, इन विद्वत्ता पूर्ण चर्चाओं के समय उपस्थित थे। बाद में वह गोवर्धन मठ, पुरी के शंकराचार्य, श्री जगन्नाथ तीर्थ हुए। कुछ दिन रुक कर जब स्वामीजी ने लिंबड़ी छोड़ा, तब तक लिंबड़ी में अद्भुत आध्यात्मिक वातावरण पैदा हो गया था।

लगभग पाँच मास बाद गुजरात का प्रवास पूर्ण करके, स्वामीजी मई महीने में ग्रीष्म बिताने, बम्बई—पूना होकर महाबलेश्वर गये। उसी समय ठाकुर साहब भी वहाँ ग्रीष्म ऋतु बिताने आये थे। अपने गुरू की अकल्पित मुलाकात से ठाकुर साहब परम आनंदित हुए। अपने निवास स्थान पर उन्हें ले आये। जितने दिन साथ रहे, विभिन्न आध्यात्मिक विषयों पर चर्चाएँ हुईं। ठाकुर साहब ने सारी बातें अपनी दैनन्दिनी में लिख डाली। ३ मई से २८ मई तक के दिनों की आध्यात्मिक

चर्चा के अनेक पहलू ठाकुर साहब ने लिखे हैं। दिनांक ९, १०, ११ के दिनों के विवरण में ठाकुर साहब ने लिखा—"स्वामी श्री विवेकानन्दजी के शास्त्रीय ज्ञान से मुझे आनन्दपूर्ण विस्मय हुआ है। शास्त्रों का जो मेरा ज्ञान था, उसमें उनके साथ चर्चा करने पर वृद्धि हुई है।"

१५ जून तक ठाकुर साहब के संग रहकर स्वामीजी पूना आये और ठाकुर साहब के पास ही रहे। ठाकुर साहब को स्वामीजी के साथ ऐसी ममता हो गयी कि वह उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं थे। उन्होंने स्वामीजी से कहा "स्वामीजी मेरे साथ लिंबड़ी चलिए। वहीं सदा के लिए रहिए।" स्वामीजी ने उस वक्त यह आमन्त्रण ऐसा कह कर टाला कि "अभी नहीं, मुझे अभी काम करना है, जो मुझे आगे बढ़ने के लिये मजबूर कर रहा है। यह सब पूर्ण नहीं होगा तब तक मुझे विश्राम नहीं लेने देगा। मुझे जब कभी भी अवकाश का जीवन बिताना होगा तो वह आपके साथ ही बीतेगा।

उसके बाद स्वामीजी ने कितनी बार लिंबड़ी जाने का प्रयत्न किया किंतु वह सफल नहीं हुए। अमेरिका से जब वह भारत लौटे तब राजस्थान में खेतड़ी के महाराजा के अतिथि थे, उस समय ठाकुर साहब ने उन्हें लिंबड़ी आने का भावपूर्ण आमंत्रण दिया। स्वामीजी लिंबड़ी के लिए रवाना हुए। रतलाम तक पहुँचे भी, किंतु स्वास्थ्य ठीक न रहा इसलिए काठियावाड़ की यात्रा स्थगित करनी पड़ी। सितम्बर १८९८ में स्वामीजी ने कश्मीर भ्रमण के बाद काठियावाड़ की यात्रा का निश्चय किया किन्तु अस्वस्थता के कारण फिर यात्रा स्थगित करनी पड़ी। लिंबड़ी के ठाकुर साहब के आग्रह भरे निमन्त्रण, बार-बार मिलने से, स्वामीजी ने कितनी बार लिंबड़ी जाने का विचार किया किन्तु हरेक बार कोई न कोई विघ्न आ जाता। दूसरी बार विदेश प्रवास से आकर, स्वामीजी ने काठियावाड़ की यात्रा का फिर से निश्चय किया। बेलुड़ मठ से उन्होंने १९०१ में मिस मकलॉउड को पत्र में लिखा "किसी न किसी तरह मैं बम्बई प्रेसीडेन्सी के सदस्य मित्रों को "कैसे हो?" कहने वहाँ जरूर जाऊँगा। वहाँ के लोग मेरी प्रतिक्षा करते-करते थक गये हैं। इस बार तो उन्हें मिलने जाना ही पड़ेगा।" ३ जून १९०१ के दिन, स्वामीजी ने बेलुड़ मठ से अपने गुरु भाई स्वामी रामकृष्णा नंदजी महाराज को पत्र में लिखा—"आप एक महीने का आराम कर लो फिर हम गुजरात-बम्बई आदि की भव्य यात्रा करेंगे।" इस तरह स्वामीजी ने लिंबड़ी जाने के बहुत से प्रयास किये, किंतु भौतिक देह द्वारा वह नहीं आ सके। अति कार्यशीलता और श्रम के कारण सिर्फ ३९ वर्ष की आयु में ४ जुलाई १९०२ को उन्होंने अपनी भौतिक देह त्याग दी।

ठाकुर साहब यशवंत सिंहजी ने भी राज-महल में आग लगने के बाद १९०७ में देह त्याग किया। एलिजाबेथ शार्प ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि "महल का बहुत सा हिस्सा आग से आकस्मिक तौर पर जल गया, उसी रात ठाकुर साहब को; जलने से बची हुई रानी साहिबा के साथ, पहने हुए वस्त्रों के साथ महल से भाग जाना पड़ा था। इस कारण से, ठाकुर साहब को जो मानसिक आघात लगा था, उससे वह अंतिम क्षण तक संभल नहीं सके। अद्भुत् पौराणिक संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों से समृद्ध लिंबड़ी के ग्रंथालय की स्मृति से, महाराज की आँखों में आँसू आ जाते।

ग्रन्थों के प्रति, शास्त्रों के प्रति, विद्या के प्रति ठाकुर साहब को अनहद प्रेम था। विद्या के क्षेत्र में उन्हें गहरी दिलचस्पी थी। उनकी दृढ़ धारणा थी कि—भारत के पुनरुद्धार के लिए नारियों को विद्या देना आवश्यक है। विद्या के क्षेत्र में उन्होंने अभूतपूर्व कार्य किया। कुशल शासक तो वह थे

ही, इसके अलावा वे पवित्र हृदय वाले, दयालु, परोपकारी और आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न विरल राजा थे। इसलिए वह राजा जनक की तरह राजर्षि के रूप में गिने जाते। उनके बारे में जॉन हस्टन ने लिखा है—'उनके जीवन की पवित्रता ने उन्हें 'महान-जनक' की पदवी दिलवाया है जो अतीत के युग के एक अलंकार रूप थे और महान बुद्धिमत्ता से विभूषित थे।" वेदांत दर्शन का प्रमाण देकर महाराजा (यशवंत सिंहजी) कहते हैं कि नील नदी के प्रवाह को बदलना संभव है; प्रशान्त महासागर को पी जाना सम्भव है; हिमालय को अपने स्थान से हटाना सम्भव है और आग का भक्षण करना सम्भव है। इन सबसे कठिन बात है मन को वश में रखना। इसके बिना मुक्ति संभव नहीं है। वह ऐसा मानते हैं कि कामना अज्ञान है और कामना का नाश ही मुक्ति है। यह मुक्ति केवल कामना का त्याग करने से ही मिल सकती है।'

श्रीरामकृष्ण देव ने स्वामी विवेकानन्द के बारे में कहा था 'वह तो नर ऋषि का अवतार है।" श्रीरामकृष्णदेव ने दिव्य दर्शन में देखा था कि एक दिव्य उच्च लोक में सात ऋषि ध्यान में मग्न हैं। उनमें से एक ऋषि को बालक ने प्रेम से कहा "मैं वहाँ पृथ्वी पर जा रहा हूँ आपको आना पड़ेगा।" बाद में श्रीरामकृष्णदेव ने स्वीकार किया था कि वह स्वयं ही वह बालक थे और वह नर ऋषि थे नरेन्द्र। जगत के कल्याणं के लिए इस ब्रह्मर्षि का जन्म हुआ था।

यदि इस राजर्षि यशवंत सिंह ने, इस ब्रह्मर्षि स्वामी विवेकानन्दजी की रक्षा नहीं की होती तो इतिहास ने कैसा मोड़ लिया होता; इसकी कल्पना करना मुश्किल है। विश्व के इतिहास में स्वामी विवेकानन्दजी का जीवन एक विशेष स्थान रखता है, और स्वामीजी के जीवन में लिंबडी और लिंबड़ी के ठाकुर साहब राजर्षि यशवंत सिंहजी एक विशेष स्थान रखते हैं।

यह अति आनन्द की बात है कि इस ऐतिहासिक लिंबड़ी में एक नये इतिहास का सृजन हो रहा है। रामकृष्ण मठ और मिशन का नया केन्द्र लिंबड़ी में शुरू हो गया है। गुजरात में राजकोट के बाद यह दूसरा केन्द्र है।

ईश्वर की लीला अकथनीय है। जिस तरह चमत्कारपूर्ण ढंग से राजर्षि यशवंत सिंहजी का यंत्र बनाकर, ब्रह्मर्षि स्वामीजी की रक्षा हुई। वैसे ही १९०७ में जब सुन्दर राजमहल में भयंकर आग लगी, तब महल का बड़ा हिस्सा भस्मीभूत हो गया। परन्तु जिस भाग में दरबार हॉल था, जहाँ स्वामीजी ने घंटों तक चर्चा की थी वह हिस्सा चमत्कारपूर्ण ढंग से बच गया।

बहुत वर्षों बाद लिंबड़ी के एक जैन से श्री छबीलदास शाह ने दैवी प्रेरणा से, 'श्रीरामकृष्ण प्रार्थना मंदिर' की स्थापना की। इस प्रार्थना मंदिर के उपयोग के लिए इसी ऐतिहासिक राजमहल की माँग करने की दैवी प्रेरणा उन्हें हुई। १९६८ में लिंबड़ी के वर्तमान ठाकुर साहब श्री छत्रसाल जी ने यह राजमहल 'श्री रामकृष्ण प्रार्थना मंदिर ट्रस्ट' को अर्पण किया। और अब यह ट्रस्ट राजमहल सहित सम्पूर्ण मिल्कियत रामकृष्ण मिशन को सौंप रहा है।

आज इस राजमहल के नीचे के हिस्से में औषधालय, पुस्तकालय आदि का संचालन हो रहा है। और जिस दरबार हॉल में बैठकर स्वामीजी ने दिनों तक चर्चाएं की थी वहाँ मंदिर की स्थापना हुई है। श्रीरामकृष्ण देव, श्रीमाँ सारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द की मूर्तियों की प्रतिष्ठा हुई है। नित्य पूजा, दैनिक आरती, आध्यात्मिक चर्चाएँ इस सभा खंड में होती हैं। कितने ही भक्तों की मान्यता है कि स्वामीजी ने जो वचन दिया था उसका उन्होंने पालन किया। वे लिंबड़ी पुनः पधारे हैं—भौतिक देह से नहीं तो सूक्ष्म देह से। और अकेले नहीं साथ में श्रीरामकृष्ण देव और श्रीमाँ सारदा देवी को लेते आये। ●

ठाकुर के चरणों में

श्री ओंकारेश्वर
फैजाबाद

मेरे मन, ठाकुर के चरणों में
सर्व - समर्पण कर दे रे ।

आते - जाते नित्य बदलते
दृश्य जगत के
परिवर्तन के महायान में
छूट गये क्षण ज्यों आगत के,
स्वागत हेतु मृत्यु आयी है
तू असहाय अकेले रे
मेरे मन ठाकुर के चरणों में
सर्व - समर्पण कर दे रे ।

जिसने जन्माया, पाला है
जिसने रूप - रंग ढाला है
जो चेतन बन छिपा है तुममे
उस प्रियतम को अपना ले रे
मेरे मन, ठाकुर के चरणों में—
सर्व - समर्पण कर दे रे ।

जो करूणामय मानव तन धर
क्षुदिराम - चन्द्रामणि के घर—
जन्मे, धरा पवित्र हो गयी
भेद - बुद्धि सन्मित्र हो गयी
दिखा गये जो एकमात्र सच—
ईश्वर है, निश्छल होकर रे—
मेरे मन, ठाकुर के चरणों में
सर्व - समर्पण कर दे रे ।

भगवान महावीर की जयंती १३ अप्रैल के अवसर पर

मंगलकारी 'णमोकार' महामंत्र

—एम. के. अग्रवाल

साधना, संयम एवं सरस्वती की अमोघ धारा भारत में हजारों वर्षों से बराबर प्रवाहित होती आ रही है। भारतीय संस्कृति के ज्ञान, दर्शन, अहिंसा एवं परोपकार की भावना ने तो विश्व में दिव्य प्रकाश फैलाया है। भिन्न-भिन्न धर्मों ने विभिन्न प्रकार से जीव को ईश्वर के पास पहुँचाने का उपाय सुझाया है। जैन दर्शनानुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की आराधना करने वाला साधक साधु कहलाता है। इन पाँच महाव्रतों की आंशिक आराधना करने वाला व्यक्ति श्रावक माना जाता है।

जैन शास्त्र में धर्म के दस लक्षणों (क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अंकिचन एवं ब्रह्मचर्य) का वर्णन है, जो आत्म कल्याण के प्रेरक माने जाते हैं। 'क्षमा' जो प्रेरणा देती है कि क्रोध के कारणों के उपस्थित होने पर भी मन और मस्तिष्क शांत रहें, जबकि विनम्रता और मृदुता को अभिमान रहित होकर मन, वचन से कर्म को अपनाना ही 'मार्दव' धर्म का दूसरा लक्षण है, जीवन में ईमानदारी के साथ मायाचार रहित सरल परिणति को अपनाना 'आर्जव, कहलाता है। मीठी वाणी बोलना, परनिन्दा एवं आत्मप्रशंसा से बचना और झूठ न बोलना 'सत्य' के तत्व हैं, 'शौच' के अन्तर्गत निर्लोभी होकर संतोष के साथ सुसंस्कारों और अच्छे विचारों द्वारा आत्मशुद्धि करना आत्मा कल्याण हेतु धर्म का पाँचवां लक्षण है। 'संयम' प्रेरणा देता है कि इन्द्रिय भोगों से दूर रहकर जीव हिंसा के बारे में नहीं सोचें। आत्म को अनात्म तत्वों से भिन्न करने के लिए आत्म प्रतिपादित पद्धति से शक्ति के अनुसार तपश्चरण करना 'तप' कहलाता है। विषयादिक वृत्तियों से मन को हटाकर आहार तथा अभयदान देना 'त्याग' का लक्षण है। 'अंकिचन के अंतर्गत बाह्य पदार्थों में ममता निवारण करते हुए आत्म स्वरूप में निमग्न होना आता है। धर्म का आखिरी लक्षण है 'ब्रह्मचर्य' जो शील, मातृ जाति के प्रति आदर भाव अपनाने तथा ब्रह्म भाव जाग्रत करने की प्रेरणा देता है।

इन कल्याणकारी, प्रेरक धर्म लक्षणों के अलावा जैन शास्त्र में एक और अमोघ महाशक्तिशाली मंत्र है, जिसे 'णमोकार महामंत्र' के नाम से जाना जाता है इस प्रातः स्मरणीय मंत्र की विशेषता है कि इसमें किसी व्यक्ति विशेष की वंदना नहीं की गयी है बल्कि व्यक्ति के निहित गुणों को नमस्कार किया गया है, इसलिए यह महामंत्र कहलाता है। भगवान महावीर के प्रादुर्भाव से काफी पहले से स्मरण करने वाला महामंत्र सभी विपत्तियों का नाश करने वाला एवं सम्पूर्ण सुख प्रदान करने वाला शक्तिशाली मंत्र है। प्रातः वेला में जैन मन्दिरों में नित्य प्रति इस मंगलकारी मंत्र के मधुर कर्णप्रिय स्वर मन में शान्ति प्रदान करते हैं। पूरा मंत्र इस प्रकार है :

णमों अरिहंताणं
णमों सिद्धाणं
णमों आइरियाणं
णमों उव्वज्झायाणं

णमो लोए सव्वसाहूणं

(यानि अरिहन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, इस लोक के सभी साधुओं को नमस्कार)।

इस महामंत्र में पाँच वाक्य, ३५ अक्षर एवं ५६ मात्राएँ हैं एवं सभी अंग बीजाक्षण हैं, जो स्वमेव में शक्ति के पूज्य हैं। इस तरह यह पूर्ण मंत्र एक महान शक्ति का द्योतक है। नियम से शांत मन एवं श्रद्धापूर्वक इस मंत्र का जप करने पर हृदय निर्मल होने के साथ-साथ आत्म ज्योति ज्ञान का उदय होता है। तब उसके बाद आत्मा को अनन्त शक्ति का बोध होने लगता है और वे दस धर्म लक्षण प्रकट होने लगते हैं जिनका वर्णन शुरू में किया गया है।

इस णमोकार महामंत्र को 'पंचपरमेष्ठि' भी कहा जाता है। इनमें 'अरिहन्त परमेष्ठि' सबसे प्रमुख है। इसके अंतर्गत मनुष्य गृहस्थ जीवन का त्याग कर मुनिधर्म को स्वीकार कर ज्ञान की प्राप्ति करता है। वह अरिहन्त पद को प्राप्त करता है। इनसे जन्म, मृत्यु माया-मोह, अहंकार, भय, निद्रा, राग-द्वेष आदि मुक्त हो जाते हैं। ऐसे ज्ञानी जीव मोक्ष प्राप्त कर सिद्ध बनते हैं। जैन धर्म के सभी २४ तीर्थंकर इसी के अन्तर्गत आते हैं।

सिद्ध परमेष्ठि श्रेणी के अन्तर्गत तीर्थंकर के अतिरिक्त जो आत्माएँ अपनी आत्मा का कल्याण कर अष्ट कर्मों का विनाश करती हैं एवं मोक्ष को प्राप्त कर लेती हैं, सिद्ध शिला पर विराजमान होती हैं। सर्वप्रथम मोक्ष पाने वाले प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ देव के छोटे पुत्र बाहुबली हुए और अन्तिम मोक्ष पाने वालों में 'भगवान महावीर' के बाद जम्बु कुमार स्वामी हैं।

आचार्य परमेष्ठि के अन्तर्गत प्राणी अपने आचार को शुद्ध रखते हुए सध्याव द्वारा लोगों को उपदेश देकर उनकी आत्मा का कल्याण करने के साथ-साथ उनके लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ऐसा आचरण करने वाले आचार्य कहलाते हैं।

सागर की तरह गहरे एवं गम्भीर स्वभाव प्रकृति वाले व्यक्ति अपने अन्दर ज्ञानरूपी रत्न को समाहित रखते हैं। यही मुनि संघ में सबसे अधिक ज्ञानी, अन्य मुनियों को पढ़ाने वाले उपाध्याय परमेष्ठि कहलाते हैं।

जो साधुगण अपनी साधना द्वारा अपने को इस प्रकार एकाग्र कर लेते हैं कि उन पर किसी बाह्य स्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता है, वे अवगुण रहित समस्त आरंभ परिग्रह त्याग कर २८ मूल गुण पालन करने वाले 'साधु' परमेष्ठि कहलाते हैं।

अतः हम देखते हैं कि णमोकार महामंत्र 'अरिहन्तो को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, इस लोक के सभी साधुओं को नमस्कार' पढ़ने से आत्मा में शान्ति का प्रवेश होता है। इनके सुनने, पढ़ने एवं बोलने से मंगल होता है और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त होता है। भगवान महावीर की जयंती के दिन यह अवसर है कि हम इस महामंत्र के जाप को जीवनचर्या का अंग बनायें और अपनी सात्विक भावना को जाग्रत कर विश्व कल्याण की सोचें। (हिन्दुस्तान से साभार)

उलझे जीवन के सुलझे रास्ते

श्रीमती मंजुला बोरिया
उदयपुर

'जीवन बहुत कठिन और दुःखमय है - यह एक आधारभूत सत्य है, और इसकी महत्ता इसमें भी है कि यह बुद्ध के चार आर्यसत्यों में प्रथम आर्यसत्य है। परन्तु इस सत्य की महानता इसमें निहित है कि अगर हम इस सूक्ति या कथन को वास्तव में समझ लेते हैं, तो समझिये कि समझने मात्र से मुक्ति का मार्ग पा जाते हैं, क्योंकि एक बार जीवन की दुःखमयता को स्वीकार कर लेने के बाद जीवन की कठिनाइयाँ कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। आखिर तो, कठिनायों का ही दूसरा नाम जीवन है।'

किन्तु विडम्बना यह है कि होता बिल्कुल इसके विपरीत है। हम प्रारम्भ से ही जीवन के प्रति यह अवधारणा बना लेते हैं कि 'जीवन को सरल व सुखद होना चाहिए' और इसी कारण सामान्य रूप से आने वाली दैनिक जीवन की समस्याएँ या चुनौतियाँ हमें हताश व निराश कर देती हैं। इन कठिनायों को लेकर न केवल हम दुखी रहते हैं बल्कि, निरन्तर उनकी चर्चा व शिकायत कर जीवन को बोझिल बना लेते हैं और भूल जाते हैं कि 'जीवन तो दुःखों व समस्याओं की शृंखला है।' अगर जीवन को हम इस दृष्टिकोण से देखना शुरू कर दें तो वह अधिक आसान प्रतीत होने लगेगा—जीवन के प्रति इस दृष्टिकोण को अपनाने के लिए हमें 'कुछ भी असम्भव नहीं है' की धारणा को लेकर प्रारम्भ करना पड़ेगा। यह मान कर चलना होगा कि अपरिहार्य कुछ नहीं है। जब जीवन को हम इस दृष्टिकोण से जोना प्रारम्भ कर देंगे तो समाधान बहुत आसान जान पड़ेगा। क्योंकि तब हमारी आर्यवृत्ति समस्याओं का समाधान खोजने की होगी, केवल उनका दुखड़ा रोने की नहीं।

जीवन तो निश्चित लम्बाई के एक कम्बल के समान है, उसे ऊपर खींचने पर पैर ठिठुरेंगे और नीचे खींचने पर कन्धे ठंढे हो जायेंगे। समझदार व्यक्ति वह है जो इसी कम्बल में सिकुड़ कर सो जाता है। यानि समझदार व्यक्ति वह है जो शिकवा-शिकायत नहीं करता वरन् समस्याओं के साथ अपना समायोजन करता है और उन विकल्पों को खोजने में शक्ति लगाता है जिनसे समस्याओं को सुलझाया जा सके। वस्तुतः समस्याओं को सुलझाने व उनका सामना करने की प्रक्रिया दुःखदायी होती है; ये समस्याएँ हमारे अन्दर दुःख, निराशा, चिन्ता, संत्रास व कभी-कभी आक्रोश भी उत्पन्न करती है. किन्तु मुख्य बात यह है कि समस्याओं का सामना करने व सुलझाने की यही प्रक्रिया हमारे जीवन को अर्थपूर्ण भी बनाती है। जीवन को कठिनाइयाँ हमारे व्यक्तित्व में विवेक व शक्ति का सृजन करती है। समस्या का सामना करने की क्षमता से व्यक्ति का मानसिक व आध्यात्मिक विकास होता है। जीवन की चुनौतियाँ हमारे व्यक्तित्व को निखारती हैं। अनुभव इसका साक्षी है कि जीवन में वही व्यक्ति अधिक सफल होते हैं जो इस अग्नि-परीक्षा से निकलते हैं, बजाय उनके जिनका बचपन अपेक्षाकृत सुख-सुविधाओं में व्यतीत हुआ हो।

बेन्जामिन फ्रेंकलिन ने सही कहा है कि 'वही परिस्थितियाँ जो दुःखदायी होती हैं, शिक्षणीय होती हैं।' जीवन का सही अर्थ समस्याओं का सामना करने व सुलझाने की सम्पूर्ण प्रक्रिया के द्वारा ही उद्घाटित होता है। समस्याओं का सुलझाने के लिए जिस प्रकार के विवेक व आत्मबल की आवश्यकता होती है उनका व्यक्तित्व में सृजन ये समस्यायें ही करती हैं। अतः विवेक समस्याओं का सीधा सामना करने में है, उनसे भागने व उन्हें टालने में नहीं। इसके लिए आवश्यक है कि हम प्रारम्भ से ही स्वयं में तथा बच्चों में विकट परिस्थितियों का सामना करने की क्षमताओं व प्रवृत्तियों को पैदा करें। एक सुखद व स्वस्थ जीवन के लिए ये आवश्यक हैं और इन्हें प्राप्त करने के लिए जीवन के प्रति अनुशासनात्मक दृष्टिकोण उत्पन्न करना पहली अनिवार्य शर्त है। इनसे बालक में प्रारम्भ से ही ऐसे सन्तुलित, समन्वित व सुदृढ़ चरित्र का विकास होगा जो जीवन की विकट से विकट कठिनाइयों में उसे विचलित नहीं होने देगा तथा जीवन के कठिन मोड़ों को सहज ही पार करने में सहायक होगा।

अब प्रश्न उठता है कि ऐसे अनुशासनात्मक साधन कौन से हैं? अनुशासित जीवनयापन की वह प्रक्रिया जो हमें जीवन की समस्याओं व उनसे उत्पन्न दुःखों को भावात्मक रूप में स्वीकार करने, व सहजता से उनका सामना करने में सहायक होती है, निम्नलिखित हैं—

(1) उन परिस्थितियों से पहले निपटें जो चुनौती प्रस्तुत करती हैं, उन्हें टालें नहीं; किन्तु जिनसे सुखद अनुभूति तुरन्त मिलने की आशा हो उन्हें बाद में लें।

(2) अपने दायित्व से परिचित रहें व उसे स्वीकार करें।

वास्तविकता को स्वीकार करें, उसे नकारें नहीं। अपना सन्तुलन बनाये रखें।

जीवन की समस्याओं को उत्तरीति से समझने व हल करने की इस प्रक्रिया को अपने अन्दर उत्पन्न करना कठिन नहीं है, कठिन है इसे अपनाने की इच्छाशक्ति। अगर हम बचपन से ही अपने दैनिक जीवन में इस प्रक्रिया को अपनाने की आदत डाल सकें तो निःसन्देह जीवन की दुरूह समस्याओं का कटिबद्धता से सामना कर पायेंगे।

हम प्रायः अनुभव करते हैं कि अधिकांशतः लोगों में अप्रीतिकर व दुष्कर कार्यों को टालने की प्रवृत्ति बन जाती है। वे सदा उस कार्य को पहले सम्पन्न करना चाहते हैं जो आसान हो या जिनसे सुखद अनुभव या परिणाम प्राप्त होने की आशा हो। किन्तु यह अदूरदर्शिता की प्रवृत्ति है। इससे शनैः शनैः उनमें कठिन परिस्थितियों का सामना करने का हौसला कम हो जाता है। इसके विपरीत विवेक इसमें है कि हम कठिन समस्या को पहले हल कर लें व उस कार्य को विलम्ब से करें जिनसे संतुष्टि जल्दी मिलती है संतुष्टि में विलम्ब की प्रक्रिया हमें सुख व पीड़ा को इस प्रकार क्रमबद्ध या व्यवस्थित करना सिखाती है कि हम कठिन कार्य को पहले निपटा लेना चाहते हैं ताकि बाद में आसान कार्य-सम्पादन का आनन्द ले सकें। समझदार बच्चों में यह प्रवृत्ति बचपन से देखी जा सकती है, वे स्कूल से आते ही, गृहकार्य पहले निपटा कर फिर खेलना पसन्द करते हैं, रोटी या सब्जी पहले खाकर या दवाई लेकर मिठाई खाने का आनन्द लेते हैं। बाल्यकाल में विकसित की गयी यह प्रवृत्ति भविष्य में बड़ी सहायक प्रतीत होती है और जो प्रारम्भ से कठिन कार्य टालने की प्रवृत्ति बना लेते हैं, वे सदा कठिनाईयों से भागने की इच्छा रखते हैं।

हम जीवन की किसी भी विकट समस्या का

समाधान केवल तभी कर सकने में सक्षम होते हैं जब इस समस्या के संदर्भ में स्वयं का दायित्व समझ कर उसे सुलझाने का प्रयास करते हैं। समस्या को यह कहकर टाल देना कि उसके लिए मैं उत्तरदायी नहीं हूँ, वह किसी और के द्वारा पैदा की गई है अतः इसे सुलझाना भी मेरा दायित्व नहीं है, इस प्रकार का सोच समस्या का निराकरण नहीं है। जीव के साथ विकट परिस्थितियों का सामना करने पर ही जीवन की समस्याएँ हल हो सकती हैं। उनके समाधान की पहली शर्त्त समस्या के दायित्व को स्वीकार करना ही है।

समस्या के निवारण की कड़ी का अगला चरण जीवन को सही वास्तविकता से परिचित होना है। जितनी जल्दी हम जीवन की वास्तविकता से परिचित होंगे, उतनी ही आसानी से हम विकट परिस्थितियों से निपटने में सक्षम बनेंगे। अवास्तविकता हमें निरन्तर भुलावे में रखती है और जीवन के प्रति विवेकपूर्ण निर्णय लेने में बाधा उत्पन्न करती है। जीवन की वास्तविकता से अभिज्ञता उस नक्शे के समान है जिसकी मदद से जीवन की भूल-भुलैया को पार करना आसान होता है। नक्शा अगर सही है तो हम अपनी स्थितियों का सही जायजा ले पायेंगे व आगे बढ़ने का मार्ग निर्धारित कर सकेंगे, अन्यथा जीवन के चक्रव्यूह में खो जायेंगे। अतः विवेक व दूरदर्शिता जीवन की सही वास्तविकता को समझने में ही है—हवाई किले बनाने में नहीं।

एक कठिन चुनौती हमारे सामने तब उत्पन्न होती है जब हम जीवन की वास्तविकता को समझ तो लेते हैं—पर उसे निपटाने का उपाय नहीं जानते। यह सत्य है कि जीना दुष्कर है, परन्तु यदि अनुशासन के द्वारा जीवन के प्रति सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाकर परिस्थितियों के साथ समायोजन करने की प्रवृत्ति पैदा कर सकें, तो जिन्दगी को जीना इतना दुष्कर प्रतीत नहीं होगा।

हमें अपने में उस विवेक को भी जाग्रत करना होगा जो, न केवल हमारा मार्गदर्शन करेगा अपितु हमें अपनी सीमाओं व मर्यादाओं से भी अवगत करायेगा ताकि हम अपने व्यक्तित्व में सन्तुलन बनाये रख सकें। सफल जीवन-निर्वाह के लिए सन्तुलित आचरण व व्यवहार एक अनिवार्य शर्त्त है। आचरण में सन्तुलन, व्यक्तित्व को लचीला बनाता है और लचीलापन कठिनाईयों में व्यक्तित्व को टूटने से बचाता है। व्यक्तित्व का लचीलापन परिपक्वता का द्योतक है। लचीलेपन के असाधारण गुण के द्वारा व्यक्ति परस्पर विरोधी आवश्यकताओं, लक्ष्यों, कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्वों तथा दिशाओं में समन्वय स्थापित करने में समर्थ होता है। जीवन के प्रति अनुशासनात्मक प्रवृत्ति ही व्यक्ति को अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं व इच्छाओं में सन्तुलन रखना सिखाती है। जीवन में कई ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जब व्यक्ति को अपनी महत्वाकांक्षाओं को छोड़ना पड़ता है और उन्हें छोड़ना दुःखदायी भी होता है—इसलिए इसे अनुशासन कहा गया है। जीवन की गति सदा निर्बाध रूप से नहीं चलती, उसमें कई ऐसे मोड़ व घुमाव आते ही रहते हैं। जिनमें सन्तुलन व समन्वय के द्वारा ब्रेक लगाना पड़ता है, अन्यथा सन्तुलन बिगड़ कर औंधे मुँह गिरना पड़ता है।

इन सब कठिनाईयों से पार पाने के लिए हमें पुनः बुद्ध के मध्यमवर्ग के उस सत्य को अंगीकार करना ही होगा कि सन्तुलित व लचीला व्यक्तित्व ही जीवन के झंझावात में टिका रह सकता है, वरना वह उखड़ जायेगा। अतः जीवन का विषम परिस्थितियों का सामना एक आध्यात्मिक व

मानसिक रूप से विकसित तथा अनुशासित व्यक्तित्व ही अबाध रूप से कर सकने में सक्षम है। और हमारा यह नैतिक दायित्व है कि हम अपने बालकों में प्रारम्भ से ही उन विषम परिस्थितियों का सामना करने की उस अनुशासनात्मक प्रवृत्ति का सृजन करें जो उन्हें इन विपदाओं से जूझने में निपुण बनाये व टूटने से बचाये।

अभी निष्कर्ष के रूप में एक सुझाव मैंने पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है कि जीवन की विषम परिस्थितियों का सामना आध्यात्मिक व मानसिक रूप से विकसित व अनुशासित व्यक्तित्व ही सहजता से कर सकता है। ऐसे व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक है कि बाल्यकाल से ही बालकों में अनुशासनात्मक प्रवृत्तियाँ उत्पन्न की जायें। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि बालकों में ये प्रवृत्तियाँ कैसे जगायी जायें? निश्चय ही इस अहम् प्रश्न से निपटने में माता-पिता एवं अभिभावकों की महती भूमिका है।

ऐसा कदापि नहीं है कि उद्दण्ड या लापरवाह बच्चों को घर में अनुशासन नहीं सिखाया जाता। इसके विपरीत ऐसे बच्चे अपनी शैतानियों और लापरवाही के कारण दण्डित ही अधिक होते हैं। समस्या तो यह है कि अभिभावक द्वारा सिखाये जाने वाला यह दण्डात्मक अनुशासन प्रायः निरर्थक होता है। ऐसे अनुशासन को अनुशासनहीन अनुशासन की संज्ञा दी जा सकती है और उसके लिए स्वयं अभिभावक ही जिम्मेदार हैं। वे बच्चों के सामने एक अनुशासनहीन व्यक्तित्व का ही मॉडल प्रस्तुत करते हैं। वे उन्हें "मैं करता हूँ, वह करो" की अपेक्षा "मैं कहता हूँ वह करो" सिखाते हैं। वे उनके सम्मुख वही सब करते हैं, जो वे चाहते हैं कि उनके बच्चे न करें। जैसे— आपस में बिना संयम या आत्म सम्मान के लड़ते हैं, अपने द्वारा लगायी गयी शर्तों का स्वयं पालन नहीं करते; बच्चों के सामने अभद्र व दायित्वहीन व्यवहार करते हैं। उनका अपना जीवन इतना अव्यवस्थित व अनुशासनहीन होता है कि बालक किंकर्त्तव्यविमूढ़ सा हो जाता है, उसे समझ में नहीं आता कि वह क्या करे? माता-पिता वास्तव में उससे क्या चाहते हैं? इसके विपरीत अगर माता-पिता बालक के सम्मुख व्यवस्थित, अनुशासित व संयत जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हैं तो बालक पारिवारिक परिवेश में ही उस आदर्श को आत्मसात् करता जाता है। अनुशासन उसके अन्तरतम में सरलता से उतरता जाता है और इस प्रकार की जीवन परिपाटी को वह अपने जीने का आदर्श मान लेता है।

अनुशासनात्मक प्रवृत्ति जागृत करने के उपर्युक्त आदर्श मानक से भी अधिक महत्त्वपूर्ण माध्यम 'प्यार' है। यदि बालकों को अपनत्व व प्यार भरा व्यवहार मिलता है तो कई बार अव्यवस्थित परिवारों में भी बहुत अनुशासित बच्चों का विकास होता है, क्योंकि ऐसे परिवारों में जहाँ व्यवस्था व अनुशासन तो भरपूर है पर वातावरण में उदासीनता व विरक्ति है; माता-पिता के पास बच्चों के पालन-पोषण के लिए रुपयों-पैसों का बाहुल्य है, सिखाने को ऊँचे-ऊँचे आदर्श हैं, पर अतिव्यस्तता के कारण देने को प्यार व समय नहीं है। बड़ी विडम्बना है कि कई बार ऊँचे समाजवादी माता-पिता के पास समाज सेवा के लिए तो यथेष्ट समय होता है पर, अपने बच्चों के लिए नहीं। ऐसे वातावरण में बालक या तो मुरझा जाते हैं, अन्तर्मुखी हो जाते हैं या विद्रोही और उच्छृंखल बन जाते हैं, खेद की बात है कि बहुत से माता-पिता इसे बच्चों का ही दोष समझ लेते हैं और उन्हें निरन्तर प्रताड़ित करते रहते हैं; जबकि कमी स्वयं उनके व्यवहार व पालन-पोषण की रीतिनीति में रहती है। अगर हमारे पास बच्चों को देने के लिए समय नहीं है तो हम

उनसे अनुशासित होने की अपेक्षा नहीं रख सकते। बच्चों की भावनाएं इतनी कोमल होती हैं और उनकी आवश्यकताएं इतनी सूक्ष्म कि उन्हें जानने व समझने के लिए निगाह व समय चाहिए। अपनी व्यस्त दिनचर्या के कारण कई बार हमें इस बात का अहसास ही नहीं रहता कि बच्चे को हमारे स्नेह व संभाल की आवश्यकता है। वह बोल नहीं पाता, किन्तु हमसे मौन अपेक्षा रखता है; कई बार कहने की कोशिश करता भी है तो माता-पिता अपनी व्यस्तता के आगे उसकी अवश्यकता को नगण्य समझ यह कह कर टाल देते हैं कि 'क्यों परेशान करते हो, तुम्हें दिखता नहीं, हम कितने व्यस्त हैं?' ऐसा रुखा व उदासीन व्यवहार बालक के मनोबल को तोड़ देता है, वह आहत हो जाता है और फिर आपके सामने आने की हिम्मत नहीं जुटा पाता।

इसके विपरीत समर्पित, स्नेही व सतर्क माता-पिता बच्चों की छोटा-से-छोटा आवश्यकता की पूर्ति के लिए तत्पर रहते हैं तथा उनके अच्छे कार्यों की प्रशंसा कर उनका मनोबल बढ़ाते हैं। बालक के चरित्र के सही निर्माण के लिए जहां उन्हें प्यार करना होता है, वहीं समय-समय पर कठोर भी बनना पड़ता है। आदर्श उदाहरणों द्वारा उन्हें प्रेरणा देनी होती है, तो समय-समय पर उनके कार्यों की सराहना कर उनका आत्म-विश्वास भी बढ़ाना होता है। और यह सब करने के लिए समय, प्यार, अपनत्व व समर्पण चाहिए। बालक में इस बात का अहसास का होना कि वे परिवार के केन्द्र बिन्दु हैं; परिवार में उनकी कद्र है, उनमें आत्मविश्वास पैदा करेगा और उन्हें कठिन परिस्थितियों का सामना करने योग्य बनायेगा। अन्यथा उनमें हीन भावना उत्पन्न होगी व शनैः-शनैः कार्य को टालने की प्रवृत्ति उत्पन्न होगी। इसके विपरीत अगर माता-पिता बच्चे में यह आत्मविश्वास पैदा कर पायेंगे कि हर स्थिति में वे उनके साथ हैं तो वे हर विकट परिस्थिति का सामना करने का हौसला जुटा पायेंगे।

अतः समर्पित माता-पिता द्वारा प्रेरित अनुशासन व विरक्त माता-पिता द्वारा निर्देशित अनुशासन में गुणात्मक अन्तर होता है। छोटे से छोटा बच्चा भी अपने माता-पिता के वात्सल्य का स्पन्दन अनुभव करता है, चाहे वह उस समय व्यक्त नहीं कर सकता। पर यह अनुभव भविष्य में उसकी अनुभूति का अंग बनता है। माता-पिता द्वारा बच्चा का हर आवश्यकता में भागीदारी तथा उनका निर्णायक घड़ियों में साझेदारी उनमें इतना विश्वास उत्पन्न करती है कि बड़ा होकर वह अपनी हर जिम्मेदारी व कठिनाई का सामना करने लायक बनता है। वह उन्हें टालता नहीं, क्योंकि उसमें यह विश्वास बैठा हुआ है कि चूंकि उसके माता-पिता उसके साथ कठिनाइयां वहन करते आये हैं, अतः अब वह स्वयं भी उन्हें वहन कर सकता है और यहीं से सही अर्थ में अनुशासन की शुरूआत होती है।

अतः बच्चों के मानसिक स्वास्थ्य और सन्तुलित व्यक्तित्व निर्माण के लिए हर माता-पिता का यह दायित्व बनता है कि वे बच्चों में यह विश्वास पैदा करें कि वे परिवार के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। माता-पिता द्वारा पोषित यह विश्वास उनके आत्मसम्मान को जाग्रत करता है; वे अपनी कद्र करना सीखते हैं। अगर बचपन में माँ-बाप बच्चों की ओर प्रर्याप्त ध्यान नहीं देते तो उनमें यह हीन भावना बैठ जाती है कि उनका कोई महत्त्व नहीं है और फिर वे अपनी कद्र नहीं करते। इससे इनमें आत्मविश्वास नहीं पनपता, वे किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी लेने से कतराते हैं और

कठिन परिस्थितियों का सामना नहीं कर पाते, उन्हें टालने की प्रवृत्ति बना लेते हैं।

अत: जो बालक माता-पिता की पूर्ण देखरेख व प्यार में पले हैं, वे वयस्क होकर न केवल अपना मूल्य समझेंगे, बल्कि उनमें आत्मविश्वास व सुरक्षा का सुदृढ़ मनोभाव होगा। ऐसे व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थितियों का बड़ी सरलता व निपुणता से सामना कर सकेंगे इसमें सन्देह नहीं।

●

देवलोक

—ब्रह्मलीन स्वामी अपूर्वानन्द
अनुवादक—स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण आश्रम, राजकोट।

ठाकुर के लिए जुहीफूल की माला

मेरे बाएँ हाथ की व्यथा पूरी दूर नहीं हुई, उसी अवस्था में दाहिने हाथ से ठाकुर भण्डार में थोड़ा-थोड़ा काम करने लगा। पूजा के लिए फूल तोड़ना एक प्रमुख कार्य था। उस समय तक बेलुड़ मठ में कोई फूल का बगीचा नहीं था। बेला, जुही जाति का फूल का पेड़ भी नहीं था। ठाकुर जुहीफूल की मोटी माला खूब पसन्द करते थे। फिर भी उस समय मठ में नित्य जुही या बेल फूल की माला ठाकुर को देने की कोई व्यवस्था नहीं थी। कभी-कभी भक्त लोग लाते तो ठाकुर को मोगरे की माला पहनायी जाती थी।

नारायण बाबू, भुवनबाबू, भूषणबाबू और बडालमोशाय, ये चार वराहनगर मठ में पहले से मठ को अनेक प्रकार सहायता करते थे। ठाकुर के पार्षद सभी उनको खूब स्नेह करते एवं आदर यत्न करते थे।

वराहनगर के भक्त बडाल महाशय एक दिन बात-बात में वे बोले कि, वराहनगर में राय लोगों के फूल बगीचे में बहुत 'जुही फूल खिलना आरम्भ हुआ है। वह फूल कैसे पाया जा सकता है इस बारे में वे बोले: 'यदि कोई दोपहर को डाली लेकर जाए तो बगीचे के मालिक से कह कर कुछ फूल की कलियाँ दिलवा दूँगा।' महापुरुष जी के पास यह प्रस्ताव बताने से वे प्रसन्न होकर मुझे रोज दोपहर को वराहनगर जाकर जुहीफूल की कली तोड़ लाने का आदेश दिया। मैं ठाकुर का भोग लगते ही जल्दी-जल्दी थोड़ा सा खाकर भण्डार से चार पैसा और छोटी सी डाली लेकर दौड़ कर नौकाघाट पर गया एवं दो पैसा देकर नदी पार कर वराहनगर में बडालमशाय के घर हाजिर हो गया। वे मुझको साथ लेजाकर राय लोगों के माली के साथ परिचय करा दिया। मैं रोज जल्दी-जल्दी एक मोटी माला के लायक जुही फूल की कली तोड़कर, डाली में भीजे गमछे से ढक कर, नदी पार कर, मठ में तीन बजे से पहले ही वापस आकर भण्डार के काम में लग जाता एवं शाम को देवेन महाराज और शक्ति

महाराज के साथ हम तीन लोग मिलकर आरती के पहले ही एक मोटी माला बना डालते।

महापुरुष महाराज सन्ध्या के पहले नीचे उतर कर हम लोगों को माला गूंथते देखकर उत्साहित होकर कहते थे। 'माला गूंथने के समय मन-ही-मन ठाकुर का नाम जप करना। माला गूंथने के समय बातचीत मत करना। मन-ही-मन जप करते जाना। भक्ति के साथ इस प्रकार माला गूंथना जप ध्यान की तरह साधना जानना,'—इत्यादि। महापुरुष महाराज के कथनानुसार हम तीन लोगों ने चुपचाप माला गूंथ कर खूब आनन्द पाया। संन्ध्या आरती के बाद ठाकुर को यह माला पहनाई जाती। पुजारी महाराज इसी माला को रात्रि में ठाकुर के शयन घर में रखते। मंदिर, शयनघर, सब जुहीफल की गन्ध से महक उठता। इसी वर्ष गुलाब बगीचे के एक ओर दो जुही और दो शेला फूल का पेड़ लगाया गया। उससे बाद में बहुत बड़ा बगीचा बन गया।

नागलिङ्गम फूल से ठाकुर पूजा

कई वर्ष बाद में 'नागलिङ्गम' पेड़ में पहले दो फूल खिला। ठाकुर भण्डारी ने यह दो फूल तोड़कर ठाकुर पूजा में देकर महापुरुष महाराज को यह समाचार देते ही वे छत से मन्दिर में गये एवं नागलिङ्गम से ठाकुर की पूजा हुई है, यह देखकर खूब प्रसन्न हुए और साथ-ही-साथ भण्डारी को बोले: 'तुम लोग अभी एक प्रसादी नागलिङ्गम फूल भीगे हुए रुमाल में लपेट कर बलराम मन्दिर, महाराज को दिखाने ले जाओ। उनके पेड़ का प्रथम फूल ठाकुर को दिया गया है यह देखकर वे बहुत प्रसन्न होंगे'। महापुरुषजी की इच्छानुसार एक साधु एक प्रसादी फूल लेकर नीचे से बलराम मन्दिर जाकर महाराज को यह फूल देने से महाराज खूब प्रसन्न हुए। इसी नागलिङ्गम पेड़ में अब बहुत सा फूल खिलता है।

मठवासियों के प्रति महापुरुषजी का प्रेम

महाराज दक्षिण भारत जाने के लिए तैयार हुए एवं (पहली अप्रैल १९२१) महापुरुष महाराज एवं अन्य कई संन्यासी ब्रह्मचारियों के साथ हावड़ा होते हुए पुरी भुवनेश्वर की यात्रा की।

* * *

मठ महापुरुष महाराज से रहित हो गया। यद्यपि उस समय मठ में पूजनीय खोका महाराज थे—उनका रोज दर्शन करता, वे भी खूब स्नेह परायण थे। तब भी महापुरुषजी जिस शून्यता की सृष्टि कर गये थे वह क्रमशः असहनीय हो गयी। इसीलिए दो एक दिन बाद ही उनको भुवनेश्वर के पते पर मन की अशान्त अवस्था का वर्णन करते हुए पत्र लिखा। वे साथ-ही-साथ ८.४.१९२१ को भुवनेश्वर से जो चिट्ठी लिखी थी उससे मठवासियों के प्रति उनका कितना गम्भीर प्रेम था उसका सम्यक् परिचय मिलता है।

श्रीमान् शंकर चैतन्य;

तुम्हारा पत्र पाकर सब कुछ ज्ञात हुआ। हमलोग जहां भी रहें तुम लोगों के ऊपर सर्वदा हमारी दृष्टि रहती है, कारण तुम लोगों ने देह, मन, प्राण सभी कुछ प्रभु के पादपद्मों में समर्पित कर दिया है। मूल में पानी सिंचाई करने से वृक्ष की शाखा-प्रशाखा निश्चय ही पुष्ट होती है। श्री श्रीमाँ की कृपा मिलना एवं श्री श्रीठाकुर की कृपा मिलना एक ही बात है। अनेक जन्मों के पुण्य फल से उनकी कृपा मिलती है। तुमको वह हुआ है एवं प्रभु के संघ के भीतर रहने में सक्षम हुए हो, वह बहुत भाग्य से होता है, जानना। मठ में प्रभु की सेवा में नियुक्त हो, आनन्द से रहो एवं सभी भाईयों को अपना परम आत्मीय

समझना, एक प्राण समझना। साधन, भजन, पाठ और मठ के सब कार्य प्राण सहित करना। तुम लोगों का स्वयं का कुछ कार्य नहीं है, सभी प्रभु का है। प्रभु का मठ, प्रभु का कार्य, हम लोग उनके दास मात्र हैं - यही ज्ञान पक्का होना चाहिए। मन-प्राण जितना उनमें लीन होगा, उतना ही यह ज्ञान अपने आप होगा।

और अधिक क्या लिखूं। मेरा आन्तरिक आशीर्वाद एवं स्नेहप्रीति तुम तथा अन्य सभी जानना। यहाँ पर प्रभु की कृपा से महाराज के साथ हम सभी अच्छी तरह से हैं।

बहुत सम्भव है १८ अप्रैल को हम लोग यहाँ से मद्रास की यात्रा करेंगे। अभी मठ में लोग कम हैं, साधन, भजन और अध्ययन में मन अच्छी तरह से देना। प्रभु लोगों को सर्वदा देख रहे हैं।

शुभाकांक्षी
शिवानन्द

पुन :—देवेन, माखन, धर्मानन्द, ज्योतिर्मयानन्द, परेश आदि सभी को मेरी बातें कहना।...

उनका स्नेहाशीर्वादपूर्ण पत्र पाकर मन कितना शान्त हुआ एवं उनके उपदेश के अनुसार कामकाज, साधन-भजन और पढ़ाई करने लगा।

उन सभी ने १८ अप्रैल से मद्रास की यात्रा की है—वह सब समाचार भुवनेश्वर से बेलुड़मठ यथा समय मिल गया था। इसीलिए कुछ दिन रुक कर मठ का सब समाचार महापुरुष महाराज को मद्रास के पते से चिट्ठी में लिखा। उत्तर में मद्रास मठ से १३-५-१९२१ को उन्होंने लिखा।

श्रीमान् शंकर चैतन्य,

तुम्हारा पत्र पाकर मठ का समस्त समाचार विस्तार से ज्ञात हुआ। मेरा इनफ्लूएंजा ठीक हो गया है, परन्तु दुर्बलता अभी भी कुछ है, वह भी प्रभु की कृपा से शीघ्र ही ठीक हो जाएगी। तुम सभी प्रभु की कृपा से शारीरिक और मानसिक रूप से अच्छे हो जानकर बहुत आनन्द हुआ। आन्तरिक प्रार्थना करता हूँ— तुम सभी उनके राज्य में खूब आगे बढ़ो। प्रेम, भक्ति, ज्ञान, विवेक, वैराग्य, सेवापरायणता स्वाध्याय आदि में तुम लोग परिपूर्ण हो जाओ।

शरत महाराज बीच-बीच में आते हैं जानकर खुशी हुई। श्री श्रीमाँ के मन्दिर का कार्य और श्रीठाकुर घर के सीढ़ी का कार्य प्रारम्भ हो गया है जानकर हमलोग प्रसन्न हुए। यह सम्वाद हम लोगों को बीच-बीच में मिलता रहता है। तुम और शक्तिचैतन्य प्रभु के पूजा भण्डार में कार्य कर रहे हो एवं प्रभु को प्राण भर कर बेला और बकुल फूल की माला देकर नित्य सेवा कर रहे हो, कमल का फल भी खूब आ रहा है यह सब जान कर हम लोग कितने आनन्द का अनुभव कर रहे हैं यह तुमको लिखकर कैसे समझाएँ! प्रभु अपनी सेवा की स्वयं व्यवस्था कर लेते हैं, हम लोग केवल देखकर धन्य होते हैं और उनकी महिमा का अनुभव कर धन्य होते हैं। ज्योतिर्मयानन्द के पत्र से उस दिन बहुत से समाचार मिले। कालिका चैतन्य हरिमहाराज की सेवा में जा रहा है यह सुनकर खूब आनन्द हुआ। बहुत सौभाग्य से प्रभु के भक्तों की सेवा का सौभाग्य मिलता है। प्रभु उसका कल्याण करें। जिससे वह स्थिर होकर उनकी सेवा कर सके। वहाँ बीच-बीच में आँधी वर्षा हो रही है जानकर प्रसन्न हुआ। यहाँ जरा भी बरसात नहीं है। खूब गरमी है, फिर भी समुद्र की हवा यहाँ तक अच्छी तरह से मिलती है। सुन रहा है इस मास (मई) के अन्त में यह समुद्र की हवा बन्द हो जाएगी एवं उसी समय यहाँ भयंकर गरमी पड़ेगी।...हमलोगों के आन्तरिक आशीर्वाद और स्नेह प्रेम तुम और अन्य सभी जानना।

(क्रमशः)

सिस्टर निवेदिता

सुश्री बसवीर कौर आहूजा
पटियाला पंजाब

कुछ और महान व्यक्तित्व

गोपाल की माँ श्रीमाँ के साथ रहने लगी थी। उनकी आयु अब ८० वर्ष की थी, जब निवेदिता का उनसे मिलाप हुआ। वह एक संत नारी थी और श्रीरामकृष्ण उन्हें अपनी माँ की तरह समझते थे, धर्म के मामले में वह बड़ी कट्टर थी। जब निवेदिता पहली बार श्रीमाँ के पास १९२७ में रहने गयी तो उन्हें सदमा पहुँचा। घर में एक विदेशी को रखना और ठिकाना देना, परन्तु धीरे-धीरे वे निवेदिता को प्यार करने लगी। वह उन्हें नरेन की बेटी कहकर बुलाती थी क्योंकि वह स्वामी विवेकानन्द को नरेन कहती थी।

गोपाल की माँ के बारे में निवेदिता ने स्वामी जी से बहुत कुछ सुन रखा था। १८९८ में जब एक चांदनी रात में निवेदिता श्रीमती बुल और कुमारी मैकलाइड किश्ती द्वारा गोपाल की माँ से मिलने गयी तो उस कमरे के दर्शन किये जहाँ गोपाल की माँ ने प्रभु की प्राप्ति की थी। गोपाल की माँ ने बैठने के लिए उन्हें चटाई और खाने के लिए सूखे भुने हुए चावल और मिश्री दी। जब स्वामीजी को इस मिलन का पता लगा तो उन्होंने कहा "आह! यह पुरातन भारत है जिसके तुमने दर्शन किए हैं। यह प्रार्थनाओं और प्रभु प्राप्ति के लिए आंसुओं, जगरातों और उपवासों का भारत है। जो गुजर रहा है और मुड़कर कभी भी नहीं आयेगा।

१९०३ में जब गोपाल की माँ बहुत बीमार हो गयी तो वह निवेदिता के पास अपने जीवन के शेष दिन खुशी-खुशी बिताने के लिए आ गयी। अब उनके दिल को निवेदिता के प्यार और सेवा ने जीत लिया था विशेष कर वे उनके पवित्र और सादे जीवन से बहुत प्रभावित हुई थी। अब निवेदिता की खुशी की भी सीमा नहीं थी, उनकी प्यारी दादी माँ, उनके प्यार का भरा खजाना अब उनके अपने घर में अपने पास था। गोपाल की माँ की सेवा का यह अवसर पाकर वे सचमुच ही बहुत प्रसन्न थीं। इतनी व्यस्तताओं के बावजूद भी वे दादी माँ के चरण दबाने का समय निकाल लेने की खुशी प्राप्त कर लेती थी। उनका कहना था कि उनका घर परम प्यारी माँ के चरणों से पवित्र हो गया था और, "दादी माँ के आने से, और भी परम पवित्र हो गया है। मेरे विचार में दादी माँ का स्थान परमहंस के बराबर है। दादी माँ के दिल में इतना प्यार था कि परमहंस भी अपने आपको उनके सामने बच्चा महसूस करते थे। क्या इससे अधिक कुछ और कहा जा सकता है?"

तीन साल बाद गोपाल की माँ की निवेदिता के घर में मृत्यु हो गयी। हिन्दू रीति रिवाज के अनुसार निवेदिता ने एक छोटा सा कार्यक्रम रखा। अड़ौस-पड़ोस की स्त्रियों को उन्होंने निमन्त्रण दिया। धार्मिक संगीत का गायन कई घण्टे चलता रहा और अंत में प्रसाद भी बांटा गया।

बोस परिवार

डा० जगदीश चन्द्र बोस और उनकी पत्नी अबला बोस निवेदिता के निकटवर्ती मित्रों में से थे। जब निवेदिता ने देखा कि कुछ ब्रिटिश वैज्ञानिक डा० बोस की खोजों को तोड़ मरोड़ कर पेश करके हड़प करने में लग गये हैं तो वे स्वयं आगे आयी उनकी सहायता के लिए। उन्होंने

डाक्टर बोस की पुस्तकें स्वयं दोहरायी और छपवानी शुरू की। पुस्तकें छपवाने के लिए आर्थिक सहायता भी अपनी सहेली श्रीमती बुल से लेकर दी। यह सहायता लगभग तीन हजार पौंड की थी जो विशेष रूप से भारतीय वैज्ञानिकों के उपयोग के लिए थी। डा० बोस को लिखने और छपवाने में सहायता देने के अतिरिक्त उन्होंने उन्हें एक वैज्ञानिक शोधशाला बनाने के लिए भी उत्साहित किया और आर्थिक सहायता भी दी। यह संस्थान १९१७ से पहले न खुल सका और तब तक निवेदिता की मृत्यु हो चुकी थी, परन्तु डा० बोस को जो सहायता निवेदिता ने दी थी, उसे वह कभी नहीं भूले। शोधशाला के अतिरिक्त भाषण में उन्होंने कहा, "मेरे संघर्ष भरे प्रयत्नों से मैं कभी भी अकेला नहीं था जब सारा संसार मुझ पर सन्देह करता था, मुझे अविश्वास से देखता था, तब भी कुछ लोग ऐसे थे जिनका मुझमें विश्वास नहीं होता। आज वे लोक परलोक में हैं।" डाक्टर बोस ने अपनी वसीयत में एक लाख रुपये निवेदिता के लिए भव्य स्मारक बनाने के लिए छोड़े जो कि उसकी पत्नी ने शोध शाला में निवेदिता हाल के नाम से बनवाया जिसे "वाणी भवन" कहते हैं। निवेदिता अपनी छुट्टियाँ प्रायः बोस परिवार के साथ बिताया करती थी या पश्चिम के देशों में। भारत में कलकत्ता के निकट दम-दम में, दार्जिलिंग या अल्मोड़ा में। १९१० में वे सब इकट्ठे होकर केदारनाथ और बद्रीनाथ की लम्बी तीर्थ यात्रा के लिए हिमालय को गये। अगले वर्ष १९११ में वह उन्हीं के घर दार्जिलिंग में ही स्वर्गवास हो गये।

ठाकुर परिवार

निवेदिता रवीन्द्र नाथ टैगोर से पहली बार १८९८ में मिली। अगले साल उनका परिचय उनके पिता देवेन्द्र नाथ ठाकुर से विभिन्न स्थानों पर हुआ। रवीन्द्र नाथ के मन मोहने व्यक्तित्व, सुरीली आवाज और मीठी बोली ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। दूसरी ओर रवीन्द्र नाथ टैगोर भी भारत और हिन्दू धर्म के प्रति उनके प्रेम से बहुत प्रभावित थे। वह चाहते थे कि वह उनकी पुत्री के लिए एक पश्चिमी ढंग का स्कूल आरम्भ करे, परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया। क्योंकि वह नहीं चाहती थी कि बच्चों को पश्चिमी आचार व्यवहार से प्रभावित किया जाये।

रवीन्द्र नाथ ने अपने पुत्र को निवेदिता की ओर से भेजे गये कुछ विद्यार्थियों और स्वामी सदानन्द के साथ हिमालय की यात्रा पर भेजा। १९०४ में वह स्वयं निवेदिता के साथ बुद्ध गया गये और इसी वर्ष कुछ समय बाद निवेदिता उनके साथ ढाका के निकट स्यालदा रहने गयी। रवीन्द्रनाथ ने अपनी पुस्तक 'परिचय' में निवेदिता का एक सुन्दर शब्द चित्र लिखा, जिसमें उन्होंने कहा, "वह सम्मान की पात्र है, इसलिए नहीं कि उन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार किया है बल्कि इसलिए कि वे स्वयं बहुत महान है।" एक और जगह पर उन्होंने लिखा कि, "निवेदिता हरफनमौला बुद्धि की मालिक है, और योद्धा भी है। उसमें वह शक्ति है जिससे वह दूसरों को प्रभावित करती है।" निवेदिता ने काफी बंगाली भी सीख ली थी और उन्होंने रवीन्द्र नाथ की 'काबुली वाला' का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया।

प्रतिवेदन

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द भाव प्रचार परिषद, बिहार का वार्षिक अधिवेशन

देवघर,

श्री रामकृष्ण विवेकानन्द भाव प्रचार परिषद, बिहार का त्रि-दिवसीय वार्षिक अधिवेशन दिनांक ७ से ९ अप्रैल, ९५ तक श्रीरामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर में सम्पन्न हुआ। अध्यक्षता परिषद् के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी सुहितानन्दजी महाराज ने की। कार्यक्रम का शुभारम्भ वैदिक मंत्रोच्चार एवं प्रतिनिधियों के परिचय से हुआ। बिहार राज्य के विभिन्न रामकृष्ण आश्रमों के लगभग ८० पुरुष एवं महिला प्रतिनिधियों ने अधिवेशन में भाग लिया। सभी आश्रमों ने वार्षिक प्रगति प्रतिवेदन प्रस्तुत किया।

अधिवेशन में निर्णय लिया गया कि प्रत्येक आश्रम निम्नलिखित बिन्दुओं पर सक्रियता से कार्य करे—

१. प्रत्येक आश्रम में बाल केन्द्र की स्थापना कर बालकों के सर्वांगीण विकास का कार्य किया जाय।
२. प्रत्येक आश्रम वर्ष में कम-से-कम एक बार जिला स्तर पर युवा-सम्मेलन का आयोजन करे।
३. विद्यालय स्तर पर बच्चों के बीच श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द भाव धारा से सम्बन्धित विषयों पर प्रतियोगिताएँ आयोजित की जायँ।
४. श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द भाव धारा की प्रदर्शनी विशेष अवसरों पर लगायी जाय।
५. ग्रामीण क्षेत्रों में सेवा कार्य किया जाय।
६. ग्रामीण विकास के कार्य एवं स्वनियोजनार्थ प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाय।
७. अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र की व्यवस्था की जाय।

अधिवेशन की आयोजन समिति की ओर से समुचित व्यवस्था कर बाबा वैद्यनाथ, तपोवन, कुन्डेश्वरी मन्दिर, नौलखा मन्दिर एवं नव दुर्गा मन्दिर के दर्शन भी प्रतिनिधियों को कराये गये। श्रीरामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर के निर्देशन में संचालित बालकेन्द्र के बालक-बालिकाओं के बीच जाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन बच्चों द्वारा प्रस्तुत मुक्त हस्त एवं लघु उपकरणों के व्यायाम बड़े प्रभावोत्पादक, प्रेरक एवं अनुकरणीय रहे। उन बच्चों द्वारा सांस्कृतिक संध्या में प्रस्तुत कार्यक्रम भी बड़े आकर्षक रहे। स्वामी सुहितानन्दजी ने बताया कि इस बाल केन्द्र में अनौपचारिक शिक्षा की समुचित व्यवस्था की गयी है एवं हरिजन तथा निर्धन परिवार के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती है, इस बाल केन्द्र में अध्यापन कार्य करने वाले कोई भी अध्यापक वेतन भोगी नहीं हैं। विद्यापीठ के ऊँचे वर्गों के छात्र ही अपने छोटे भाइयों को पढ़ाते हैं एवं आत्मानन्द की अनुभूति करते हैं। जमालपुर आश्रम के प्रतिभागियों द्वारा श्रीरामकृष्ण के जीवन-वृत्त पर आधारित एक सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया।

श्रीरामकृष्ण मठ एवं मिशन बेलुड़ से पर्यवेक्षक के रूप में उपस्थित होकर श्रीमत् स्वामी भागवतानन्दजी महाराज ने इस भावधारा में डूबकर कार्य करने का आह्वान किया। स्वामी आत्म विदानन्द, श्री शम्भु महाराज एवं अन्य संन्यासियों ने भी अपने प्रेरक उद्गार प्रकट किये। अन्त में उक्त भाव प्रचार परिषद् के संयोजक श्री आर० डी० भट्टाचार्य ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

प्रस्तुति—डॉ० रामकिशोर प्र० श्रीवास्तव, सदस्य
श्री रामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा

संसार में जब आया है तो एक स्मृति छोड़कर जा, वरना पेड़-पत्थर भी तो पैदा तथा नष्ट होते रहते हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

जीवन की समस्त लयों के अनुकूल

पी य र ले स

दि पीयरलेस जेनरल फाइनैन्स एण्ड इन्वेस्टमेन्ट कं० लिमिटेड
पीयरलेस भवन
३, एसप्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता—७०० ०६९

भारत की बृहत्तम नॉन-बैंकिंग बचत कम्पनी

डाक पंजीयन संख्या - सी.एच.पी.-१४-८३

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्दजी की बहुप्रतीक्षित बृहत् जीवनी

युगनायक विवेकानन्द

तीन खण्डों में

स्वामी गम्भीरानन्दजी द्वारा लिखित
स्वामी विवेकानन्दजी की यह मूल बंगला जीवनी
उनका अत्यन्त प्रामाणिक और अन्तर्दृष्टिसम्पन्न
जीवन-चरित मानी जाती है। सर्वदूर समादृत यह ग्रन्थ अब
हिन्दी-भाषी पाठकों को उपलब्ध हुआ है। हिन्दी में
स्वामी विवेकानन्दजी के बृहत्, प्रमाणभूत जीवनी का
अभाव था, जिसकी पूर्ति इस प्रकाशन से अब
हो गई है।

हर खण्ड करीब डमाई ४०० पृष्ठों का है।

हर खण्ड का मूल्य रु. ५०/- *तीन खण्डों का एकत्रित मूल्य रु. १२०/-*

प्रकाशक :
रामकृष्ण मठ
(प्रकाशन विभाग), धन्तोली, नागपुर-४४००१२

श्रीमती गंगा देवी, जयप्रकाश नगर, छपरा (बिहार) द्वारा प्रकाशित एवं
शिवशक्ति प्रिन्टर्स, सईदपुर, पटना-४ में मुद्रित।